कश्मीर शैवदर्शन में साधना और यम-नियम

प्रवक्ता :
ईश्वरस्वरूप लक्ष्मणजी महाराज

भाषानुवादक :
प्रो. मखनलाल कुकिलू

प्रकाशक :
ईश्वरआश्रम ट्रस्ट,
गुप्त-गंगा, निशात,
कश्मीर।

कश्मीर शैवदर्शन में
साधना
और
यम-नियम

प्रवक्ता :

ईश्वरस्वरूप लक्ष्मणजी महाराज

भाषानुवादक :

प्रो. मखनलाल कुकिलू

प्रकाशक :

ईश्वरआश्रम ट्रस्ट,
गुप्त-गंगा, निशात,
कश्मीर।

आमुख

आज से चौदह वर्ष पूर्व सद्गुरु महाराज ईश्वर-स्वरूप श्री लक्ष्मण जी महाराज ने, ईश्वर-आश्रम गुप्त गंगा निशात (कश्मीर) में, कुछेक रविवासरीय व्याख्यानों में शैवशास्त्र के प्रारम्भिक नियमों और अभ्यास सम्बन्धी गहराईयों पर अपनी मातृभाषा में प्रकाश डाला। व्याख्यानों की यह माला अतीव हृदयहारी थी तथा भक्तजनों की अनेक शंकाओं का समाधान करने में सक्षम थी। इन्हीं मनोरम व्याख्यानों का हिन्दी उल्था आज सद्गुरु महाराज की ८८वीं जन्म जयन्ती पर सर्वसाधारण जनता के लिए प्रस्तुत करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। सद्गुरु महाराज ने जो कुछ इन व्याख्यानों में समझाया था उनको पांच प्रकरणों में अंग्रेज़ी भाषा में विस्तारपूर्वक सम्पादित करके तत्कालीन "यूनिवर्सल शैव-ट्रस्ट" गुप्त गंगा निशात ने "Lectures on practice and discipline in Kashmir Shaivism" नामक पुस्तक के रूप में ई. सन् १९८२ अप्रेल में प्रकाशित किया था। भक्त जनों के आग्रह पर इसी पुस्तक का भाषानुवाद (ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट निशात कश्मीर के सौजन्य से) आज के पावन पर्व पर प्रस्तुत किया जा रहा है। भाषानुवाद करते समय यद्यपि इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि कहीं गुरु महाराज के भावों में अस्पष्टता न आये या कुछ हेराफेरी न होवे फिर भी यदि कहीं लेखनी फिसल गई हो तो उस असाधुता के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं। ईश्वरस्वरूप जैसे महान व्यक्तित्व वाले प्रवक्ता के व्याख्यानों का अनुवाद करना साधारण व्यक्तियों की बुद्धि से परे है। ऐसा भगीरथ-कार्य कोई विरला सरस्वतीपुत्र ही सम्पन्न करने में सशक्त है। अपनी मन्दबुद्धि के दुस्साहस के कारण जो मैंने इनके पतञ्जलि सूत्रों जैसे दुर्बोध वाक्यों को भाषान्तर में दुहराने

की चेष्टा की वह तो भगवान भास्कर को खद्योत के प्रकाश से प्रकाशित करने की चेष्टा जैसी है।

पांच व्याख्यानों पर आधारित प्रस्तुत व्याख्यान माला शैवी साधना का मेरु-दण्ड है। इन व्याख्यानों में सद्गुरु महाराज ने गागर में सागर भर दिया है। शैवी साधकों के लिए इस व्याख्यान माला में, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो अछूता रहा हो। सद्गुरु महाराज ने ज्ञान, योग, भक्ति, भावना और विद्वत्ता से इन व्याख्यानों को उपदेशों का अमृतघट ही बना दिया जिसका एक-एक शब्द अमृत की एक-एक बूंद के समान निर्वाणपरक है। अभ्यास के निगूढ़मर्मों पर जिस सरल रीति से प्रकाश डाला गया है वह साक्षात् गुरुमन्त्र ही है। यम और नियमों का विशद विवेचन मर्म-स्पर्शी हैं। हिंसा की नकारात्मक प्रवृत्तियों का जिन चुने हुए शब्दों में वर्णन किया गया है भला कौन राक्षस हृदय उनका आस्वाद पाकर रक्तास्वाद से पुनः अपने को बहलायेगा। वास्तव में सद्गुरु महाराज की वाणी से प्रस्फुटित यह व्याख्यान-गंगा युगों-युगों तक अविद्या के अन्धकार में भ्रान्त जनों को ज्ञान के सीकरों से सिञ्चित करती रहेगी, ऐसी हमारी आशा है।

वैशाख कृष्ण-द्वादशी

शनिवार, ७ मई, १९९४

प्रो. मखन लाल कुकिलू

प्रकरण प्रथम

यह पहला व्याख्यान कश्मीर शैव-दर्शन में समझाये गये नियमों पर आधारित है। इन नियमों का पालन करने से जिज्ञासु साधक साधनामें एकाग्रता और अनुसन्धानरूपता को बड़ी आसानी से प्राप्त कर सकता है। संपूर्ण रूप से मन की स्वच्छता का होना इस लक्ष्य-प्राप्ति की पहली आवश्यकता है। स्वच्छ मन तो वह है जो द्वैतभाव से अनभिज्ञ है और समभाव की भावना से ओत-प्रोत है। समभाव का तात्पर्य है कि आपको अतिशय राग या अतिशय विराग किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं है। इसके साथ-साथ हमें किसी व्यक्ति के विरुद्ध वैर भाव भी नहीं रखना चाहिए। समभाव की भावना को अपनाये बिना तथा बदले की भावना को त्याग किये बिना साधना में सत्य, अनन्त और परिपूर्ण को जानने के हमारे सारे प्रयास पूरी तरह से इस प्रकार विफल होंगे जैसे छिद्रों वाली टोकरी में जल लेने की क्रिया।

साधना में अस्वस्थ भावनाओं का कोई स्थान नहीं। राग और द्वेष की क्रियाओं से मन पूर्ण रूप से शुद्ध और निर्मल होना चाहिए। ये दोनों पाप हैं। जब मन इनके त्यागने से निर्मल बना हो तभी हम विश्वास के साथ अभ्यास कर सकते हैं और इसके अद्‌भुत फलों से लाभान्वित भी हो सकते हैं।

इस साधना के क्षेत्र में कैसे प्रवेश पाना चाहिए? अब इस विषय पर मैं प्रकाश डालूंगा। यह मेरी सलाह है कि जब आपने अभ्यास करने की ठानी तो सबसे पहले "आसन" की ओर ध्यान देना चाहिए जो आपने अभ्यास के लिए चुना हो। इस आसन पर आपने अपने शरीर को बिना हिलाये-डुलाये

निश्चल बैठना है। उचित तो यही होगा कि आप शिलाखण्ड की तरह पूर् तरह से निश्चेष्ट रहें। आपने अपनी पलकें नहीं झेंपनी हैं, होंठ नहीं हिलाने हैं, कान या नाक को खुरोचना नहीं है और जंभाई या डकार नहीं लेने हैं। संपूर्ण रूप से निश्चेष्ट होके अपने शरीर को सघनहिमखण्ड की तरह रखना है। जब आप आसन जमाने में लगे हैं तो आरंभ में संकल्प-विकल्पों का तांता मन में उठता और लीन होता रहेगा। इसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। साथ ही शारीरिकविचलन जैसे बिलखना और छींकने की क्रिया से दूर रहना चाहिए। एक घण्टे के समय में आप इसका अनुभव करेंगे कि आपका मन अब सूक्ष्म विकल्पावस्था और शुद्धभाव में स्थित होने लगा है। धीरे-धीरे आपको इस बात का भी ज्ञान होने लगेगा कि आपका मन शांति और विश्राम से पूर्ण साधना के क्षेत्र की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो रहा है। यहीं से आपका मन एकाग्र और सूक्ष्म होता जायेगा। भगवान श्री कृष्ण ने गीता जी में कहा है :

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव शमं नयेत्।।

एक जगह न टिकने वाला यह चंचल मन जिस जिस ओर से विषयों में भटकता रहता है उस उस ओर से इसका नियमन करो और इसे आत्मा में ही लीन करो।

जहां से मन विचलित होने लगा था फिर से उसी स्थान पर उसे दृढ़ रखने के लिए आपने कोई परिश्रम नहीं करना है। अभ्यास की इस प्रारम्भिक अवस्था में आपने एकाग्रभाव से शांत रहना है। एक घण्टे के समय में एकाग्रता के आपको अनुसन्धान के आनन्द के छा जाने का अनुभव होगा। गीता

जी में कहा है कि-

समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संपश्यन्नासिकाग्रंस्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

एक साधक अभ्यास काल में सीधा रहे और पूरी शक्ति से उस अवस्था को बनाये रखें तथा साथ ही नाक के सिरे की ओर निर्निमिष देखता हुआ अन्य दिशाओं की ओर भटकने से आंखों को दूर रखे। यह स्थिति तो तीरकमान जैसी सीधी और निश्चल रहने की है। साधक एक ही ध्येय की ओर रहे। वह मन को पूरी तरह से गुरु शब्द या गुरु धारणा पर एकाग्र करे। गीता जी के श्लोक के अन्तर्गत आए नासिकाग्रं शब्दका शब्दार्थ यद्यपि यह है कि साधक अपनी दृष्टि को नाक के सिरे की ओर लगाये पर यह शब्द इस ओर भी संकेत करता है कि गुरु शब्द असीम अहं परामर्श की प्रतिध्वनि है जिसका वह स्वयं मूर्ति-मान रूप है और जो सन्धि स्थान में सुप्राप्य है। इस प्रकार की एकाग्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब एक साधक ने, निद्रा का पूरा आनन्द उठाया हो, दैनिक कार्यकलापों से छुटकारा पाया हो और अपने मन को सारी घरेलू चिन्ताओं से मुक्त रखा हो। जब पूर्वाग्रहों से मन पूरी तरह निर्लिप्त हो तभी हम बिना विचलित हुए साधना में लीन होके अन्तरात्मा में प्रभु का साक्षात्कार कर सकते हैं। श्री गीता जी में भी कहा है -

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।

अभ्यास के समय साधक का मन शान्त, भय से मुक्त, अभ्यासपरायण और आसक्ति से अहंपरामर्श का अनुभव करने में लगा रहना चाहिए।

श्री कृष्ण ने इस श्लोक में कहा है कि हमें अपने उद्देश्य को पाने के लिए

शान्त, भयरहित और दृढ़संकल्प रहना चाहिए। साधक का मन विकल्प रहित और शांत होना चाहिए। उसे पूरे उत्साह के साथ तथा पूरी भक्ति के साथ अभ्यास में लगा रहना चाहिए। अभ्यासपरायण होने के लिए उसे बाहरी दबाव में नहीं आना चाहिए। अभ्यास साधक के लिए आन्तरिक इच्छाओं का ही प्रस्फुटन होना चाहिए। ब्रह्मचर्यव्रत का तात्पर्य है भक्तिभाव से पूर्ण तथा अहंपरामर्श में तन्मय होना। ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नहीं कि गेरुए रंग के वस्त्रधारण करना, माथे पर बड़ा तिलक लगाना, सिर पर बड़ी लम्बी चोटी रखना, गले में माला डालना या अपने शरीर तथा माथे पर भस्म मलना। स्वरूप अनुसन्धान परायणता साधना में एकाग्रता और पूर्ण समावेश की ओर प्रेरित करने वाली भक्ति की ओर संकेत करती है। ये सारे तौर-तरीके बाहरी "आसनजय" के हैं। अब उस "आन्तरिक आसनजय" पर प्रकाश डाला जायेगा जो मन को एकाग्र तथा अनुसन्धान परायण बनाने में सक्षम हैं। नेत्रतन्त्र में कहा है -

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम्।
आलम्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत्।।

प्राणापान के मार्ग में (जब सांस बाहर की ओर आवे तो प्राण के नाम से पुकारी जाती है और जब अन्दर की ओर जाती है तो अपान के नाम से पुकारी जाती है) अर्थात् प्राण और अपान-क्रिया के मध्यधाम में निरन्तर रूप से पूरी सावधानता बरतनी चाहिए। यही शक्ति है और यही आन्तरिक आसन है। नासिकाग्र अर्थात् सन्धि पर एकाग्रता होनी चाहिए। हमें इसी सन्धि पर, जिसे कश्मीरी भाषा में "सन्ध" कहते हैं, गुरु शब्द का लगन से अभ्यास करना चाहिए। सांस के लेने और छोड़ने में भी इसी सन्धि की ओर ध्यान

रखना चाहिए। सन्धि पर पहुंचने के साथ-साथ सांस लेने से लेकर सांस छोड़ने के अन्त तक भी इसी सन्धि पर ध्यान रखना चाहिए। इस स्थान पर एकाग्र बनने के लिए हमें भरसक प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम इस प्रकार से अभ्यास नहीं करेंगें तो हमारे सारे प्रयास निष्फल हो जायेंगे।

प्राणापान की परिभाषा यदि हम दूसरे प्रकार से करेंगे तो इसका अर्थ दिन और रात्रि से भी है। ऐसी स्थिति में हमें न दिन में न रात को, अपितु दिन और रात्रि के मध्य अर्थात् सन्धि में अभ्यास करना चाहिए। प्रातःकाल में जब ऊषा देवी दिन से मिलती है, तो उस समय जब सूर्यदेव उसे चूमता सा दीख पड़ता है, तथा सायंकाल में जब सन्ध्या देवी रात से मिलने जाती है तो उस समय जब सूर्य देव अन्तरिक्ष में डूबता हुआ सा दीख पड़ता है वही सन्धि स्थान है अर्थात् इन्ही अन्तरालों में अभ्यास में लगना चाहिए। मैं परंब्रह्म की शपथ लेता हूं कि इन नियत समयों पर एकाग्रता से अभ्यास करने से आपको साधना- मार्ग में कभी असफलता के दर्शन नहीं करने पड़ेंगे। इसके प्रतिकूल यद्यपि आप सांसों के लेने और छोड़ने की प्रक्रिया में पूरी सावधानता भी बरतोगे तो भी दिन में या रात को अनुसन्धानएकाग्रता का होना असंभव है। कहा भी है -

न दिवा पूजयेत् देवं रात्रौ नैवच नैवच।
अर्चयेत् देव देवेशं दिवारात्रिपरिक्षये।।

अर्थात् इष्टदेव की पूजा न दिन में करनी चाहिए न रात को। तात्पर्य यह कि न दिन में अभ्यास करना चाहिए न रात को। एकाग्रचित्त से प्राणापान क्रिया में भी नहीं लगना चाहिए। अपितु मध्य धाम में ही अपने अभ्यास को स्थिर करना चाहिए। अपने इष्टदेव को दिनरात्रि परिक्षय पर पूजना चाहिए

अर्थात् दिन और रात्रि के सन्धि स्थान पर अभ्यास करना चाहिए।

जब मेरे गुरु महाराज (स्वामी महताब काक जी) ने मुझे इस प्रकार के अभ्यास के विषय में दीक्षित किया तो मैं उसी समय से पूरी तरह समझने के बिना, झटपट यह अभ्यास करने लगा। जैसे मैं अपने शिष्य श्री मखनलाल मुझूको कुछ करने का आदेश देता हूं तो वह कार्य के मर्म को अच्छी तरह से समझे बिना, मेरे आदेश को पूर्ण करने के लिए झट से प्रसन्नता के साथ उठ खड़ा होता है। इसी प्रकार से मैंने भी जब गुरु महाराज से अभ्यास करने का आदेश प्राप्त किया तो मैं भी पूरी तरह से इसे समझने के बिना तथा इसकी बारीकियों पर ध्यान दिये बिना झट से अभ्यास करने लगा। मैंने गुरु महाराज से इस अभ्यास के तौर-तरीकों के विषय में कुछ भी नहीं पूछा और मैं अभ्यास करने में लग गया। मैं जोर-जोर से सांस लेने और छोड़ने लगा पर यह सारा परिश्रम व्यर्थ ही लगा। निराशा मुझे छाने लगी। मैं असफलता पर चिल्लाने लगा। मैं बहुत ही खिन्न हुआ कि मैंने कुछ पाया नहीं। एक बार इसी निराशा में मुझे आंख लगी और मैंने सपने में अपने को विचारमग्न देखा कि मुझे अपने गुरु महाराज से, आश्रम जा के, इस विषय में नये सिरे से दिशा-निर्देश पाना चाहिए। इसी विचार में मग्न मैं सपने में ही आश्रम पहुंचा जहां मैंने अपने गुरु महाराज को (स्वामी महताब काक) न देखकर अपने परमगुरु स्वामी राम जी को देखा। मैंने उनसे प्रार्थना की कि स्वामी जी! मुझे लग रहा है कि अभ्यास में मेरी गति नहीं के बराबर है। मेरे सारे प्रयत्न विफल हो रहे हैं। मेरे परमगुरु महाराज ने सपने में ही मुझे उत्तर दिया कि मुझे सन्धि स्थान पर अभ्यास करना चाहिए। मेरा सपना टूट गया और मेरी आंख खुली।

अगले दिन मैं अपने गुरु महाराज के पास चला और उनसे सपने में पाई अनुभूति के विषय में विस्तार से बखान करने लगा। मैंने जब उनसे सन्धि स्थान पर अभ्यास करने की बात को पूरी तरह से समझाने का अनुरोध किया तो वे कहने लगे हां आपने तो जल्दी में अच्छी तरह से समझने के बिना ही अभ्यास करना आरंभ किया था। आपने तो इसे पहले विधिपूर्वक सीखना चाहिए था। क्योंकि सन्धि अथवा "सन्ध" ही तो साधना है। समाहित रहना साधारण बात नहीं है। ब्रह्मपुरी के द्वार पर जो प्राणापान का मध्य है वहीं सदा आपने अनुसन्धान में रहना चाहिए। गीता जी में भी कहा है कि -

युञ्जन्नेवं सदात्मानं मद्भक्तोऽनन्यमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।

इस तरह से साधक अपने को लगातार ध्यान में लगाता हुआ एकाग्रमन से मुझमें स्थित निर्वाणपरक शान्ति को पा लेता है।

अभ्यास के साथ एक साधक की पूरी आसक्ति होनी चाहिए। बेगार समझकर अभ्यास नहीं करना चाहिए। जब आप अभ्यास करने की तैयारी में लग जाते हों तो आपने प्रसन्नचित्त रहना चाहिए और परमशिव को धन्यवाद देना चाहिए कि उसने आपको अभ्यास करने का यह सुनहरी मौका दिया। जब तक आप अभ्यास के साथ पूरी आसक्ति, मोह और उत्कट इच्छा नहीं रखोगे आप समावेश सुख के परमधाम में प्रवेश पा नहीं सकोगे। ऐसी स्थिति में समावेशप्राप्ति के सारे प्रयास सफलता के आयामों को छूने से वंचित रहते हैं अर्थात् वे सारे प्रयास बेकार और निष्फल होंगे। एक साधक जब शान्ति और समता को अपनाने से इस परमोच्च अवस्था के साथ प्रतिबद्ध होता है

तो वह अवश्य ही उस निर्वाण को पा लेता है जो परमात्मा के राज्य में ही अधिष्ठित है। आपने वे सारी गांठें खोलनी हैं जो आपके मन में स्थित हैं। उदाहरण के तौर पर अगर आप इस बात पर ईष्यालु बने हैं कि स्वामी जी महाराज उस शिष्य को अधिक चाहते हैं मुझे नहीं तो आपकी यह विचारधारा निराधार है। आपने इस रीति से नहीं सोचना चाहिए। आपने गुरु महाराज का एकाग्रचित्त से स्मरण करना है अपने गुरु-भाई का नहीं। इस प्रकार के विचार लोभ और वैरभाव से पूर्ण हैं। इनसे ही आप अपने लक्ष्य से गिर जाते हैं और बेसहारा होके रेतीली जमीन पर सरकने लगते हैं। आपने इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए कि आपके गुरु किस पर दया-दृष्टि रखते हैं। आपने केवल गुरु महाराज पर ही ध्यान केन्द्रित करना है। इस प्रकार अपने मन को समग्र रूप से पवित्र रख के आपने उस पर चलना चाहिए जो मैंने अभी कहा।।

दूसरा प्रकरण

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।
आलभ्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत् ।।
(नेत्रतन्त्र)

प्राणापान के मार्ग में अर्थात् प्राण और अपान क्रिया के मध्यधाम में निरन्तर रूप से पूरी सावधानता बरतनीचाहिए। यही शक्ति है और यही आन्तरिक आसन है।

अब मैं आपसे आसन के स्वरूप के विषय में कुछ कहूंगा यद्यपि आसन से तात्पर्य अभ्यास में तीर कमान की तरह सीधा बैठना है पर यह इसका केन्द्रीय भाव या विशेष अर्थ नहीं है। जब मैं आसन शब्द का प्रयोग करता हूं तो मेरा तात्पर्य आसन के विविधरूपों पद्मासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन या भद्रासन से नहीं, आसन से मेरा अभिप्राय कुछ और है। यही मैं आपसे बताना चाहता हूं। पहले मैं आपसे श्वासोच्छवास के विषय अर्थात् अपानवायु और प्राणवायु पर प्रकाश डालूंगा। जब सांस अन्दर की ओर ली जाती है तो वह अपान वायु और जब बाहर की ओर छोड़ी जाती है तो प्राण वायु कही जाती है। साधना में प्राणापान का महत्वपूर्ण स्थान है, विशेषकर मध्य प्राण का जो न प्राण है और न अपान है। यह प्राणापान का मध्य वह सन्धि है जो सांस लेने और छोड़ने के बीच के स्थान में विद्यमान है। यह मध्यधाम सांसारिक पदार्थ जैसा नहीं कि शारीरिक चेष्टाओं या हाथ आदि से पकड़ा जा सके। प्राणापान के इस मध्यधाम को केवल ज्ञानशक्ति से ही जान सकते हैं; वह ज्ञान तार्किक ज्ञान न होकर अनुसन्धानरूपी ज्ञान है। इस प्रकार

इस प्रकार ज्ञान और ईश्वरभक्ति से सुप्राप्य इस सन्धि स्थान को चमत्कारात्मक अनुसन्धान से विमर्श में लाया जा सकता है। इसी को वास्तविक रूप में आसन पर स्थित होना कहा जाता है। अतः शैवीसाधक के लिए अनुसन्धान की वह क्रमिक स्फुरत्ता, जो मध्यधाम में प्रकाशित होती है, "आसन" है। यह अनुसन्धान परायणता उस प्राणी से प्राप्त नहीं की जाती है जो लोभ पक्षपात या वैरभाव से पूर्ण हो। ऐसा व्यक्ति जो इन नकारात्मक विशेषताओं से सुशोभित हो, एकाग्रचित नहीं बन सकता है। इस महान उपलब्धि के लिए आन्तरिक अहंभाव की परिशुद्धि ही पूर्वापेक्षी है। यह आन्तरिक अहंभाव शुद्ध स्वच्छ और स्फटिकवत् होना चाहिए। जब आपने अपने मन को सारे पक्षपातों से मुक्त किया हो और उस सन्धिस्थान पर, जो प्राणापान के मध्य में है, पूरे अनुसन्धान के साथ जमाया हो, तभी आसन पर सुप्रतिष्ठित समझना चाहिए। कहा भी है -

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम्
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभते यतः
प्राणायामः स निर्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।।

जब आप निरन्तर रूप से प्राण और अपान की गति के मध्यधाम में अनुसन्धानपरायण बन जायेंगे तो आपकी प्राण वायु स्वाभाविक रूप से तथा विकासोन्मुख होने से अधिक से अधिक सूक्ष्म बनती जायेगी। उसी समय आप दूसरी अवस्था में कदम रखोगे। वही प्राणायाम है। जिससे वह साधक फिर च्युत नहीं होता है।

इस प्रकार साधना में आसन पर सुस्थित होने के पश्चात् प्राणायाम की सूक्ष्मतम प्रक्रिया उदित होती है। प्राणायाम का तात्पर्य यह नहीं कि प्राणापान

की गति को गर्जन की तरह शब्दायमान बनाया जाए। आसन की तरह प्राणायाम भी आन्तरिक और बहुत सूक्ष्म है। आसन से लेकर प्राणायाम की प्रक्रिया तक अनुसन्धान की प्रवहणशीलता में विच्छेदरहित निरन्तरता पाई जाती है। अनुसन्धान के माध्यम से जब आप आसन पर सुस्थित बन जाते हो तो आप अनायास ही प्राणायाम प्रक्रिया में प्रवेश पाते हैं।

हमारे गुरुओं ने इस ओर संकेत किया है कि आसन-प्राणायाम अभ्यास के दो प्रधान रूप हैं - चक्रोदय और अजपागायत्री। अजपागायत्री के अभ्यास में आपने प्राणापान के मध्यधाम में निरन्तर रूप से अनुसन्धान परायण रहना है और बिना शब्द किए सांस धीरे-धीरे लेनी और छोड़नी है। इसी प्रकार चक्रोद‍ के अभ्यास में आपने प्राणापान के मध्यधाम में निरन्तर रूप से नवन‍ोन्मेषशाली अनुसन्धान परायण रहना है। यहां भी आपने सांस धीरे- रे लेनी और छोड़नीं है पर शब्द हीनता की आवश्यकता नहीं। अत: अज ायत्री वह अनुसन्धान है जिसमें श्वासोच्छवास की गति इतनी मन्द और ब्दहीन हो कि अभ्यासी स्वयं भी इसकी गति से अनभिज्ञ रहे। इसी प्रका के प्राणायाम को कश्मीरी भाषा के कवि श्री परमानन्द ने इस वाक्य में ट किया है -

अस्त अस्त खस्तअ पञ्चालसअय
सोऽहं भैरव-भालसअय
ट्वख युथनअ लग्यि अत्यि लालसअय
मन थ्यर कर पूज़ोन प्रभु।।

आपने पांचाल नामक पहाड़ पर चढ़ना है परासंवित् प्रकाश से उद्भूत यह पर्वत भैरव-पर्वत है जो कि सोऽहं मन्त्र से ओतप्रोत है। अपने मन को

चिद्रूप में प्रतिष्ठित करने के पश्चात् ही इस पर्वत पर चढ़ना आपने आरम्भ किया है। अतः यह चढ़ाई धीरे-धीरे तय करनी चाहिए ताकि वह अमूल्यरत्न, जिसे पाना आपका ध्येय है तथा जो इस पर्वत की चोटी पर स्थित है, सुरक्षित रहे, और हाथ से खो न जाये।

इस चढ़ाई के समय आपका अनुसन्धान परिपक्व रमणीय और निरन्तर होना चाहिए। प्राणापान की गति भी क्षोभ रहित होनी चाहिए। यह गति धीमी, अपने को भी सुनने के अयोग्य, लगातार चलने वाली और वेगयुक्त होनी चाहिए। प्राणापान की गति की यह निरन्तरता अतीव आवश्यक है और इसे दो प्राणों के सन्धि स्थान में पूरे अनुसन्धान के साथ कायम रखना है। हमने अपने अनुसन्धान को उस स्थान पर अक्षुण्ण बनाये रखना है जहां से अपानवायु चरम स्थान पर पहुंचती है तथा जहां से प्राणवायु आरंभ होती है। इसी प्रकार से हमने अपने अनुसंधान को बराबर उस समय भी प्रवर्तन में रखना है जब हमारी प्राणवायु चरम स्थान पर पहुंचती है और अपानवायु पैदा होती है। अजपागायत्री का अभ्यास हमारी एक भी प्राणवायु को हाथ से खोने नहीं देता है। इसमें हमारा अनुसन्धान अविच्छिन्न, निरन्तर रूप से नवीनतम तथा धीमी गति व बिना शब्द के चलने वाले श्वासोच्छ्वास के मध्यधाम में केन्द्रित होना चाहिए। इसी को अजपागायत्री अनुसन्धान कहते हैं।

आसनप्राणायाम अभ्यास का दूसरा प्रकार चक्रोदय है। कहा है कि -

इत्येष सूक्ष्म परिमर्शनशीलनीयः
चक्रोदयोऽनुभवशास्त्रदृशा मयोक्तः।

यह चक्रोदय, जिसे मैंने अपने अनुभव, अपने गुरु की शिक्षा और शास्त्रों

की व्याख्या के आधार पर बताया, अत्यन्त सूक्ष्म अनुसन्धान के साथ समझना चाहिए। आपने इस अनुसन्धान को जो अतीव सूक्ष्म परिमर्शनशीलनीय है, सदा पास में रखना है। यह न तो बाहिरी अनुसन्धान है न आन्तरिक, अपितु प्राणापान के मध्यधाम की गहराई में है। यही सूक्ष्मपरिमर्शनशीलनीय है।

चक्रोदय और अजपागायत्री में बड़ा अन्तर है। यदि आरंभ में आप अजपागायत्री का अभ्यास करने बैठेंगे आप असफल होके इससे हाथ धो बैठेंगे। अभ्यास के समय आप गहरी नींद में पड़ जायेंगे। अजपागायत्री का अभ्यास अतीव कठिन है। ज्यों ही आप इसे ग्रहण करने का अभ्यास करोगे त्यों ही आप असफल होंगे। अत: आरंभ में हमें चक्रोदय का अभ्यास करना चाहिए और इसमें परिपक्वता के आने पर ही अजपा गायत्री की ओर ध्यान देना चाहिए। अजपागायत्री के अभ्यास के लिए आपने-

हस्तं हस्तेन संपीड्य
दन्तैर्दन्तांश्च पीडयन्।
अंगान्यंगैर्समाक्रम्य
जयेदादौ स्वकं मन:।।

हाथसे दबोचकर निजहाथ
दान्तों से टकराकर दांत
अंगों में अंगों को समेटे
जीतो पहले अपना मन।।

यह वसिष्ठ जी ने राम को उपदेश दिया था। वह उन्हें कहता है कि सबसे पहले मन पर विजय पा लो। यदि आप में शक्ति नहीं, आप अपने मन को काबू में नहीं रख सकते तो मन को वश में किये बिना अजपागायत्री का अभ्यास असंभव है। अत: शैव शास्त्र की दृष्टि में अजपागायत्री से चक्रोदय

का अभ्यास सरलतर है।

यदि आप एक हज़ार वर्ष भी अनुसन्धान और एकाग्रता के बिना चक्रोद या अजपागायत्री का अभ्यास करोगे तो समझना ये एक हज़ार साल व्यर्थ गये। प्राणापान की गति को अनुसन्धान और एकाग्रता से भरपूर रख चाहिए।

चक्रोदय में प्राणापान की ठोस गति विद्यमान है। वह प्राणापान का सश गमन है। प्राणापान की यह ठोस गति निरन्तर अभ्यास से सूक्ष्म बन जा है और बहुत समय बीतने के पश्चात् सूक्ष्मतम बनती है। इस लक्ष्य को अ अपनी इच्छा और एकाग्रता से ही पा सकते हैं। गुरु कृपा भी इसमें का नहीं आती है जब तक कि आप स्वयं पूरी भक्ति और आसक्ति से अनुसन्धा और एकाग्रता को पास रखने में दृढ़ संकल्प नहीं। जो सीधे सादे हों उ गुरुकृपा सहायक बनती हैं। सीधे सादे वे हैं जो अनुसन्धानपरायण औ अहंपरामर्शमय हों। आध्यात्मिकमार्ग पर चलने वाला साधक यदि अस्थिरचि तथा विचलित होवे तो उसे कभी सफलता नहीं मिलती है।

न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्वस्थया धिया।।

चिद्रूप का साक्षात्कार न शास्त्रों के अध्ययन से न अपने सद्गुरु की कृ से हो सकता है। चिद्रूप का साक्षात्कार केवल अपने ही सूक्ष्म अनुसन्धा से हो सकता है। न शास्त्रों से और न ही गुरु से एक साधक का उद्धा हो सकता है। परन्तु जब उसकी संवित् अपने ही अनुसन्धान में तत्पर हो तभी उसका आत्मसाक्षात्कार होता है। अजपागायत्री या चक्रोदय अनुसन्धा के अभ्यास से जब एक साधक अपने अभ्यास में परिनिष्ठित होता है त

प्राणायाम का श्री गणेश होता है। प्राणापान के मध्यधाम में अपने अनुसन्धान की निरन्तरता को सदा कायम रखने से एक साधक आसन में अधिष्ठित होता है और उसकी प्राणापान की गति सूक्ष्म और सूक्ष्मतम होती है। इस दशा में आपको सोने की सी इच्छा होती है पर यह सच्ची निद्रा नहीं होती। आप अनुसन्धान की सूक्ष्म गति की ओर अग्रसर होते हैं। आपकी अनुसन्धान परायणता आपको सोने नहीं देती। इस स्थान पर आप तुर्यावस्था (जो चौथी अवस्था है) में प्रवेश पाते हैं जो न जाग्रदवस्था है न स्वप्नावस्था है न सुषप्ति है। यह परम स्पन्द तत्त्व का आरंभ है।

शंकराचार्य ने कहा है -

यद्भावानुभवः स्यान्निद्रादौ जागरस्यान्ते।
अन्तः स चेत् स्थिरः स्याल्लभते तदद्वयानन्दम्।।

यदि आप उस स्थान पर, जो जाग्रत् और स्वप्न के अन्तराल में पाया जाता है, अपने अनुसन्धान को कायम रख सकोगे तो आप उस अद्वय आनन्द को पावोगे जो चिद्रूपता का ही स्वरूप है।

यही वह बिन्दु है जिसमें से आप चौथी अवस्था अर्थात् तुर्यावस्था में संक्रमण करते हो। यह वह बिन्दु है जो जाग्रद अवस्था के अन्त पर तथा स्वप्नावस्था के आरंभ पर पाया जाता है अर्थात् जाग्रद और स्वप्न के मध्य में। यह बिन्दु या यह सन्धि बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही तुर्यावस्था में जाने का द्वार है जो आसन पर प्रतिष्ठित होने से तथा प्राणायाम की परिपाटी से खुल जाता है। इसी सन्दर्भ में गुरु महाराज ने नीचे दी गई पंक्तियां बहुत समय पहले कविता के रूप में लिखी थी -

जाग्रद स्वप्न है सन्धि स्थान सदा इसी का रखो विचार
विचलित रहे बिना रहना है जहां कमर कसे हर बार
दुर्गम्य दरों से शोभित नूतन जग में रखो कदम बाहोश
रहते बदलते उनको सह लो परे रखो सारे मलदोष
प्राण और अपानवायु की रस्साकशी सह लो जी भर
अन्त: बहिर्द्वार रोक लो हैं यातनायें वहां प्रखर
अश्रु बहावो, करो लालसा, करो याचना नतमस्तक हो
स्पन्दशक्ति उल्लसित हो करके जाती मूलाधार को घेरे
लौट जहां से उठती ऊपर पूर्णतया विकसित हो जाती
योगी कहते इसी दशा को अनिर्वचनीय परमानन्द
अरे भाग्यशाली कितने तुम तुम्हें मुबारिक हो तुम धन्य।।

तीसरा प्रकरण

अपने आसन पर अधिष्ठत होने के लिए मैंने दो प्रकार के प्राणायामों पर प्रकाश डाला अजपागायत्री और चक्रोदय। प्राणापान में मध्यधाम पर निरन्तर अनुसन्धान परायण रहना 'आसन' से अभिप्रेत है। प्राणायाम, जो कि श्वास प्रक्रिया का स्वयंसिद्ध सूक्ष्मरूप है, आसन के अधिष्ठित होने से सिद्ध होता है और उसका परिणाम यह होता है कि साधक तुर्यावस्था (चौथी अवस्था) में प्रविष्ट होता है।

मैंने इस बात को पहले भी स्पष्ट किया कि अजपागायत्री से आसन पर अधिष्ठित होना यद्यपि असंभव नहीं पर अतीव कठिन है। अत: मैं अजपा गायत्री के फेरे में पड़ने की सलाह नहीं देता हूं। इसके बदले मैं आपको चक्रोदय अभ्यास करने का ही मशवरा देता हूं। इस अभ्यास में सफलता की आशा बलवती होती है क्योंकि यह व्यवहारिक है।

जैसा मैंने बताया कि चक्रोदय अभ्यास में प्राणापान को सशब्द और लम्बे आयामों में लेना होता है। क्योंकि प्राणापान गति में लम्बे सांस अधिक स्थान व्याप्त नहीं कर सकते हैं। छोटे सांसों में जल्दी-जल्दी सांस लेना और छोड़ना अधिक स्थान व्याप्त करता है। जितनी सांस लम्बी हो उतनी ही स्थानपूर्ति की कमी और जितनी स्थानपूर्ति की कमी हो, परिणाम भी अच्छे देखने को मिलेंगे। कल्लट ने कहा है कि -

तुटिपाते सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वलाभः

प्राणापान की गति में एक तुटि कम करने से सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता का लाभ अवश्य मिलेगा। हृदय के आभ्यतर केन्द्र के आरंभ से बाह्य केन्द्र की

समाप्ति द्वादशान्त तक प्राणापान की गति १६ तुटि में व्याप्त होती है। सवा दो अंगुलियों के साथ-साथ रखने से जितना स्थान समा सकेगा उतने ही स्थान के बराबर एक 'तुटि' की व्याप्ति मानी जाती है। किसी समय तो प्राणापान की व्याप्ति बराबर १७ तुटियों में होती है। जैसे यदि कोई शेर हमारा पीछा कर रहा हो, हम अधिक भयभीत हो रहे हों और बहुत तेज़ दौड़ रहे हों, तो ऐसी परिस्थिति में प्राणापान की गति अधिक स्थान व्याप्त करेगी। पर चक्रोदय के अभ्यास में प्राणापान की गति न्यून्यतम स्थान को व्याप्त करती है। इस अभ्यास के समय आपको सांस छोड़ने और सांस लेने के शब्द को सुनने में सक्षम होना चाहिए। वह ध्वनि इतनी अधिक होनी चाहिए ताकि आस-पास बैठे हुए लोग भी उसे अच्छी तरह से सुन सकें। चक्रोदय अभ्यास रीति को अपनाने की दो विधियां हैं। कई कहते हैं कि हृदय से सांस लेनी और छोड़नी चाहिए। पर हृदय से सांस लेनी छोड़ने की विधि को अपनाने वाले सही रास्ते पर चलने वाले नहीं हैं। इस विधि को अपनाना खतरे से खाली नहीं। यह विधि शरीर में ऊष्मा की इतनी अधिक मात्रा उपजाने में समर्थ है कि हृदय की गति इससे दुष्प्रभावित होती है और अति हानिकारक हो सकती है। इस विधि को अपनाने से कई सप्ताहों में ही प्राणपखेरू उड़ सकते हैं। अत: चक्रोदय का अभ्यास कण्ठ देश से ही सांस लेने और छोड़ने की विधि से करना चाहिए हृदय से नहीं। जब चक्रोदय के अभ्यास के द्वारा आपका आभ्यन्तर आसन जय अधिष्ठित होता है तो आपकी प्राणापान गति अत्यन्त कोमल सूक्ष्म और तनुतां को प्राप्त करती है। इसी बिन्दु पर प्राणायाम का आरंभ होता है। जैसा कि मैंने पहले भी आपको कहा कि इस समय ऐसा तो महसूस होगा कि आपको सोने की प्रबल इच्छा होगी पर आपकी

अनुसन्धान परायणता आपको सोने नहीं देगी। झपकियां लेने पर भी आप सोने की चेष्टा नहीं करोगे। आपकी अनुसन्धान परायणता इसका ध्यान रखेगी। इसके अतिरिक्त जैसा कि मैंने पहले भी बताया, आप तुर्या में प्रवेश पावोगे। यह अवस्था न तो जाग्रदवस्था है, न स्वप्नावस्था न सुषप्ति अवस्था है। वास्तव में यह इन तीनों अवस्थाओं की सन्धि में ठहरती है। अर्थात् जाग्रद व स्वप्न के मध्य में, स्वप्न व सुषप्ति के मध्य में और सुषप्ति तथा जाग्रद के मध्य में। इसी क्षण स्वत: सिद्ध ही इस अवस्था का उदय होता है। आपकी प्राणापान गति बहुत ही सूक्ष्म और कोमल बन जाती है। अन्दर और बाहर आती जाती रहती है। अनुसन्धान इस समय गहरा होता है। निद्रालु या आलसी बनने का कोई मौका ही प्राप्त नहीं होता है। ज्यों ही आप तुर्या में प्रवेश पाते हैं ये अनुभूतियां प्रत्यक्ष होती हैं और अपनी साधना में आप दत्तचित्त होके लग जाते हैं। इस प्रकार इस आध्यात्मिक सफर में आप प्राणायाम की मंजिल पर हैं और प्रत्याहार की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यहां कर्म का बखेड़ा आपको व्याकुल नहीं बना सकता। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियां कर्मशील होती हैं पर कर्मेन्द्रियों में शक्तिहीनता आती है। आप न तो अपने हाथ या अंगुलियां हिला सकते हैं न टांगें या पैर, न आंखें खोल सकते हैं, न झपकियां ले सकते हैं। व्यवहार तथा कार्य करने की दृष्टि से आप कोई भी कार्य नहीं कर सकते हैं। आप बाह्य शब्द को सुनते हैं पर अस्पष्ट रूप से। इनका आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आप इनमें विलीन नहीं होते हैं। यह शब्द आपको दूर से सुनाई देने वाले सीत्कार जैसे प्रतीत होते हैं। जैसे कहा है कि -

रथ्यां गमने तृणपर्णादिवत्

अर्थात् जब हम रास्ते में चलते हैं हमें अनेक प्रकार के दृश्य घास के

तिनके, वृक्ष, मेघ आदि देखने को मिलते हैं। पर इन सबका हमारे दिमा पर कोई असर नहीं पड़ता। इसी प्रकार से हमें संसार में चलना है। ह प्रत्येक कार्य करना है पर उनके संस्कारों से अपने को मुक्त रखना है कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम रास्ते में चलते हैं हम वृक्षों के पत्त के गिरने या आकाश में बादलों के इधर-उधर छटने की ओर कोई ध्या नहीं देते हैं। इसी प्रकार से जिस आध्यात्मिक साधक ने तुर्या में प्रवेश पाय हो उसे बाह्य घटनाओं से जो उसके इर्द-गिर्द घटती हैं, कोई सरोकार नह रहता है। यही तो प्राणायाम की परिपक्व अवस्था है। जाग्रद, स्वप्न औ सुषप्ति की बाह्म-यात्रा अब पूर्णता को प्राप्त करती हैं और तुर्या में आन्तरि यात्रा का श्रीगणेश होता है पर यह आन्तरिक यात्रा लम्बी और दुस्साध्य होत है। अत: मैं आपसे अनुरोध करता हूं कि परस्पर द्वेषभाव को त्यागो। लो व घृणा से परे रहो। यह सुदूरमार्ग भंवर जाल या भूलभुलैया में डालने वा मार्ग के समान कष्टदायक है। अपनी यात्रा की ओर ही दत्तचित्त रहो। अन लोगों के अहित के साथ चिन्तित मत रहो। प्रेम से ही सारी सिद्धियां मिलत हैं। प्रेम से ही आप इन भूलभुलैयों में से अपना रास्ता ढूंढ निकालोगे। यह तो दुर्गम यात्रा है और इसमें ध्येय की प्राप्ति असाध्य है। कहा भी है -

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

पुराने सन्तों और विद्वानों ने कहा है कि इस आध्यात्मिक रास्ते पर चलना बहुत ही कठिन है। तलवार की तेज़धार पर चलने के समान इस पर कदम रखना खतरे से खाली नहीं।

इस आन्तरिक यात्रा के आरंभ में, प्राणायाम के रूप में आप स्पष्ट रूप

से अलग-अलग पांच सूक्ष्मतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द, सूक्ष्मस्पर्श, सूक्ष्मरूप, सूक्ष्मरस और सूक्ष्म गन्ध का अनुभव करोगे। आपकी पांच इन्द्रियों को ये पांच तन्मात्र प्रभावित करेंगे पर आप सुस्पष्ट रूप से तब इनका अधिगमन करोगे जब अपने गुरु महाराज से प्राप्त शिक्षा के अनुसार आपकी प्राणापानगति मन्द और अनुसन्धानमय बनी हो। इन पांच तन्मात्रों का अनुभव निश्चय से ही आकर्षक है और इन्द्रिय जन्य प्रसाद से परिपूर्ण है। यह तो अतीव सुखदायक स्पर्श का, अतीव रमणीय रूप का, अतीव मधुर रस का, अतीव आश्चर्यजनक शब्द का और अत्यन्त सुगन्धियुक्तगन्ध का अनुभव है। बहुत ही आकर्षक होने के नाते ये अनुभव तो पंथभ्रष्ट करने वाले हैं पर हमें इनके मनोहारी अनुभवों से असावधान नहीं होना चाहिए। हमें प्रत्याहार की ओर अपनी इस यात्रा को अग्रसर रखना चाहिए।

शंकराचार्य ने भी कहा है कि -

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते
त्यक्त्वा तां परमंधाम प्रविशेत् तत्स्वचेतसा।
प्रत्याहार इति प्रोक्तः।।

अभ्यास के दौरान जब आप स्वार्गीय अनुभूतियों से पूर्ण आन्तरिक तन्मात्रों का अनुभव करते हैं तो अपनी अनुसन्धान परायणता से इनकी अपूर्वता की ओर कोई ध्यान न देकर चिद्रूप की परमावस्था में प्रवेश करना चाहिए। यही तो प्रत्याहार है।

तुर्यावस्था में आपको पांच सूक्ष्म तन्मात्रों की विद्यमानता बुद्धिगम्य होती है। पर आपको इनके आकर्षणों से विचलित नहीं होना चाहिए। आपने पूरी तरह से इनकी उपेक्षा करनी है तथा अपने एकनिष्ठ अनुसन्धान में और

अधिक रूप से कटिबद्ध रहना है। इस प्रकार से अधिष्ठित होने को ही प्रत्याहार कहते हैं। यही तो बाह्म जगत से अपना मुंह मोड़ना है और परमोच्च आन्तरिक जगत में प्रवेश पाना है। हमारी प्राणापान गति प्रत्याहार की ओर अग्रसर हो रही है। आपने कमर कस के इस महान साधना के दायरे में प्रवेश पाने का यत्न करना है। आप शारीरिक बल के आधार पर इसमें प्रवेश नहीं पा सकोगे पर केवल मन से ही। यहां किसी अन्धकार की सत्ता नहीं है क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है। कहा है कि -

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा
भवपाशनिकृन्तनः।

प्रत्याहार संसार के बन्धनों को काटता है। इसमें आप अपनी बुद्धि को चरमसत्य से पूर्ण पावोगे। जो कुछ असत्य है उसकी वहां सत्ता नहीं। वहां केवल सत्य और प्रकाश है।

तुर्या में आपकी यात्रा अभी चल रही है। इस बिन्दु पर आपकी प्राणापानगति अभ्यासपरा है। यहां से वह ध्यान की ओर अब अग्रसर हो रही है।

धीगुणान्समतिक्रम्य निर्धेयं परमं विभुम्।
ध्यात्वा, ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः।।

जब आप आन्तरिक स्वार्गीय तन्मात्राओं के क्षेत्र में अयनशील हैं तो आपने अपने मन को उस सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक चिद्रूपता पर प्रतिबिम्बित करना चाहिए। उसके पश्चात् वह श्रेष्ठ चिद्रूपता स्वतः सिद्ध ही आपके सामने प्रकाशित होगी। यही तो ध्यान है।

आपको याद होगा कि मैंने आपको कहा था कि जब आप तुर्यावस्था में प्रवेश पाते हैं तो पांच कर्मेन्द्रिय शक्तिहीन होते हैं। वे काम करना बन्द करते

हैं। प्रत्याहार दशा में प्रवेश पाते ही पांच तन्मात्र भी निष्क्रिय होते हैं। जब प्राणापानगति सुषम्णानाड़ी में प्रवेश करती है वह उसी में वहां लीन होती है। यात्रा के इस मोड़ पर फिर साधना भी अपना अस्तित्व खो बैठती है अर्थात् निर्ध्येय अवस्था का अनुभव होता है। इस अवस्था को एकाग्रता से प्राप्त नहीं किया जाता। यह स्वतः सिद्ध ही होती है।

कश्मीरी वृद्ध महिलायें यत्र तत्र कहती रहती हैं कि-

त्युथम्यअ करनाव
यथ न आस्यि करुनुय केंह
त्युथभ्य स्वरनाव
यथ न आसि स्वरनुय केंह।।

अर्थात् मुझे वह करने की शक्ति दो जिसमें कुछ नहीं करना हो। मुझे वह ध्यान करने की शक्ति दो जहां कुछ ध्यान करने की आवश्यकता न हो।

यह पुरानी उपदेशात्मक सूक्ति है जो बहुत सी पीढ़ियों से चलती आई है। जब प्राणापान की गति सुषम्णा नाड़ी में प्रवेश पाती है तो ध्यान की यात्रा आरंभ होती है।

स्पन्द शास्त्र में कहा है कि -

यामवस्थां समालम्ब्य यदयं मम वक्ष्यति।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति संकल्प्य तिष्ठति।।
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः।।

जब योगी अन्दर से ही यह दृढ़ संकल्प करता है कि जो कुछ स्पन्दात्मिका

शक्ति चाहती है उसे वह पूर्ण करेगा। इस तरह स्पन्द-तत्त्व का अवलम्बन करके उसकी प्राणापानगति सुषम्णा नाड़ी में प्रवेश पाती है तथा दुबारा कुण्डलिनी के रूप में ऊर्ध्वमार्ग से चढ़ती है। इस अवस्था में भी उसे प्रबुद्ध और अनुसन्धानमय रहना चाहिए अन्यथा वह स्वप्नावस्था में धकेला जायेगा।

यहां जीवभाव या सीमित अहं को शान्त किया गया है। प्राणापान की गति अन्दर जाकर प्राणनशक्ति का रूप धारण करती है। साधक प्राणन शक्ति का मूर्तिमानरूप बनता है। उसके रक्त की गति इतनी धीमी चलती है कि उसकी नाड़ी वैद्यों से भी जांची नहीं जाती है। इस परिस्थिति में साधक मानो बिजली की करंट का शिकार जैसा बन जाता है। पर इस अवस्था में जो दशा उसे होती है वह बिजली की करंट के समान भयावह या मृत्युसूचक नहीं होती है अपितु आनन्द और हर्ष से ओतप्रोत होती है। भिन्न-भिन्न साधक इसे विविध रूपों में अनुभव करते हैं। अत: आपको सावधान और अनुसन्धानपरायण यहां रहना ताकि आप गुमराह न हों। तन्त्रालोक में कहा है कि यदि सद्गुरु ऊंची कोटि का तथा सर्वसाधन- सम्पन्न हो और शिष्य भी सारी योग्यताओं से पूर्ण व निर्मल बुद्धि वाला हो तो गुरु अपने शिष्य की सहायता कर सकता है। इसके प्रतिकूल यदि शिष्य संपूर्ण गुणवान न हो तो गुरु भी उसकी सहायता या उसका उद्धार सही रूप में नहीं कर सकता है।

साधक के द्वारा जो यह आनन्द और हर्ष से मिलीझुली अवस्था अनुभव की जाती है वही वेधदीक्षा के नाम से पुकारी जाती हैं। जैसे बरमे से किसी कठोर पदार्थ में छेद किया जाता है उसी प्रकार से सद्गुरु भी दीक्षा रूपी बरमें से शिष्य में छेद करता है। वेधन करने के कारण ही इसे वेधदीक्षा

कहा जाता है। यह आनन्दपूर्ण अवस्था भी एक प्रकार का स्वात्म साक्षात्कार है और मुक्ति मार्ग पर से जाने की एक स्थिति है। इसे आत्म-व्याप्ति के नाम से भी पुकारा जाता है।

हमारे गुरुओं ने हमें सिखाया है कि साधक आनन्द की इस अवस्था का अनुभव छः भिन्न-भिन्न प्रकार के वेधनों से करता है। जिनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) शाक्तवेध (२) विन्दुवेध (३) भुजंगवेध

(४) भ्रमरवेध (५) नादवेध (६) मन्त्रवेध

प्राण कुण्डलिनी के नाम से विख्यात प्राणापान की परागति में ये सारे वेध व्याप्त हैं।

आनन्द और हर्ष से युक्त प्राणापान गति से वेधन करना शाक्तवेध में एक शक्ति के रूप में अनुभव किया जाता है। बिन्दुवेध में यह पति-पत्नी के संयोग में पाये जाने वाले आनन्द जैसा अनुभव किया जाता है। यदि पति-पत्नी के संयोगावस्था में प्राप्त आनन्दातिरेक को करोड़ों गुंणा गुणन करेंगे फिर भी बिन्दुवेध में पाये जाने वाले आनन्द का ही पलड़ा भारी रहेगा।

भुजंगवेध के वेधन में साधक अपने आप को सर्पाकार समझता है और इसी में अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

भ्रमरवेध में साधक को भंवरे का गुंजन सा सदा सुनाई देता है।

नाद वेध में नाद का अनुभव होता है।

मन्त्रवेध में अहं परामर्श रूप का मन्त्र ज्ञान के रूप में अनुभव होता है। ध्यान की पहुंच भी इन्हीं छः प्रकार के वेधनों तक है।

इनके अतिरिक्त वेधन का सांतवा रूप भी देखने में आता है। यह परवेध के नाम से प्रसिद्ध है। इस परवेध की व्याप्ति ध्यान में नहीं है। यह वेधन क्रिया परा जागृति में, जो चित् कुण्डलिनी के नाम से ज्ञात है, पाई जाती है। इसमें साधक पूर्ण चिद्रूपता में परिनिष्ठित रहता है। कहा है कि -

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा
धारण सा विनिर्दिष्टा।

जब साधक अपने मन को चिद्रूपता की आन्तरिक वास्तविकता में अधिष्ठित करता है वही अवस्था धारणा के नाम से जानी जाती है। धारणा केवल चिद्रूपता में ही अधिष्ठित नहीं करनी है अपितु सारी सांसारिक क्रियाओं में भी। यही तो सच्ची धारणा है।

उपरोक्त वेधन प्रक्रिया के भिन्न-भिन्न प्रकारों की वेधदीक्षा के पश्चात् धारणा की यात्रा आरंभ होती है। अर्थात् यही वेधन दीक्षा आपको धारणा नामक यात्रा या सामंजस्य की यात्रा की ओर अग्रसर करती है। आपकी संवित् इस वास्तविकता और सत्य से भर आती है कि यह सारा विश्व चिद्रूपता के सिवा कुछ नहीं है। यही तो इदन्ता का विश्वाहन्ता के साथ समीकरण है। कर्मेन्द्रियों में पुनः शक्ति की स्फूर्ति आती है। वे पुनः क्रियाशील होते हैं। ज्यों ही आप सांस लेते हैं त्यों ही आप बहिःरूपता की ओर जाते हैं। पर बहिःरूपता की ओर जाने पर भी आप तुर्यावस्था में ही अधिष्ठित रहते हैं। तुर्यावस्था में रहते हुए बहिर्जगत में आने की इसी क्रिया को क्रममुद्रा कहते है। आप विश्व चैतन्यावस्था का अनुभव करते हैं। यदि आप क्रियाशील अनुसन्धान से परिपूर्ण होंगे तो उसी दशा में आप इसका अनुभव करेंगे।

अहं प्रकाश का चिद्प्रकाश के साथ एकीकरण उस परमावस्था की ओर

लेता है जहां चैतन्य की अनुभूति अविच्छिन्न रूप से जाग्रत् स्वप्न और सुषप्ति की दशाओं में समान रूप से होती है। देहव्याप्ति में भरितावस्था की यह पराकाष्ठा है और इसे जगदानन्द के नाम से भी पुकारा जाता है।

चौथा प्रकरण

जब हम शैवशास्त्रों का अध्ययन करते हैं तो हमें इस बात को याद रखना चाहिए कि ये शास्त्र भगवान शिव ने स्वच्छन्दनाथ के रूप में प्रकट किए हैं। इस रूप में इन्होंने अपने पांच मुखों से, जो इनकी पांच महान शक्तियों के अर्थात् चित्शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रतीकभूत हैं इन शास्त्रों का आविर्भाव किया है। ये पांच मुख स्वच्छन्दनाथ के पांच रूप हैं, जो क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर हैं। इन्हीं पांच मुखों से प्रस्फुटित तन्त्रशास्त्रों को अभेद भेदाभेद और भेद रूप ज्ञान से पूर्ण होने के कारण तीन भागों में विभक्त किया गया है। इनमें से अभेद तन्त्रों को भैरवतन्त्र, भेदाभेद तन्त्रों को रुद्रतन्त्र और भेद तन्त्रों को शिवतन्त्रों की संज्ञा दी गई है। भैरव तन्त्रों की संख्या ६४ हैं रुद्रतन्त्रों की संख्या १८ हैं। और शिव तन्त्रों की संख्या १० हैं। इस प्रकार इन तन्त्रों की संख्या कुल ९२ हैं यहां यह स्मरणीय है कि इन तन्त्रों के जन्मदाता स्वच्छन्द- नाथ परमशिव का ही दूसरा रूप है।

स्वच्छन्दनाथ ने अपने पांच मुखों से जब इन तन्त्रों का आविर्भाव किया तो उस समय उनकी भुजायें १८ थी। ये ही १८ भुजायें १८ तत्त्वों की प्रतीक हैं। ये तत्त्व तो उनकी पांच महान शक्तियों से ही क्रमशः इस प्रकार प्रस्फुटित हुए हैं। चित् शक्ति से एक ही तत्त्व, जो मनस तत्त्व है, प्रकट हुआ है। आनन्दशक्ति से बुद्धि और अहंकार, इच्छाशक्ति से प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानरूप पांच प्रमुख वायु, ज्ञानशक्ति से शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध रूप पांच ज्ञानेन्द्रिय और क्रियाशक्ति से वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ रूप पांच कर्मेन्द्रिय प्रकट हुए हैं। स्वच्छन्दनाथ ने ये १८ भुजायें संसारियों

की रक्षा के लिए ही प्रकट की हैं। पर इस रक्षा के बदले में जीव को दिव्य अनुशासन का पालन करने के लिए बाध्य किया है। यह दिव्य अनुशासन ५ नियम और ५ यमों पर आधारित हैं। जब आप इन यमों और नियमों में पाये जाने वाले विधि विधानों का पूरी तरह से पालन करोगे तभी परम शिव की कृपादृष्टि (अर्थात् रक्षा) के पात्र बनेंगे। यह हकीकत है मेरी कोरी कल्पना नहीं है। अब मैं सर्वप्रथम ५ नियमों पर प्रकाश डालूंगा। ये पांच नियम हैं, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

शौच- शौच का तात्पर्य है स्वच्छता, अर्थात् शरीर मन और जिह्वा की शुद्धता। स्वरूप -लाभ के लिए शरीर की सफाई आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि आपके कपड़े कीमती हों पर जो भी कपड़े आपने धारण करने हैं वे अतीव शुद्ध और धाग-दब्बों से रहित होने चाहिए। मन भी शुद्ध होना चाहिए। यदि बुरे विचार आपके दिमाग में आ पटकते हैं, आपने उन्हें सत्पुरुषों के उपदेशों से या उन महान सन्तों और ऋषियों के वचनों के स्मरण करने से, जिन्होंने हमारे लिए उपदेशों का खजाना छोड़ रखा है, दिमाग से बाहर फैंकना चाहिए। आपका मन असंख्य विकल्पों से विचलित नहीं होना चाहिए। यह शुद्ध, सरल और निर्मल होना चाहिए।

वाचिक शुद्धता का तात्पर्य यह है कि जो शब्द हम बोलते हैं उनसे क्रोध या अप्रसन्नता उत्पन्न न हो। उसी वाणी का प्रयोग करना चाहिये जो सच्ची, प्रिय, सही और पूरी तरह से शुद्ध हो। वाणी को न गाली -गलौच के लिए और न ही उद्वेगकारी भावों को प्रकट करने के लिए प्रयोग में लाना चाहिये। वाणी को केवल मधुर शब्दों के प्रयोग तथा ईश्वर भक्ति में लगाना चाहिए। दूसरों की बुराई का बखान करने से वाणी को परे रखना चाहिए।

शरीर मन और वाणी की शुद्धता ये तीनों इस तरह से अन्योन्याश्रित हैं कि इनमें से किसी एक का निश्चय और उत्साह के साथ पालन करने से अन्य दो नियमों का भी संवर्धन स्वत: सिद्ध होगा। ये तीनों नियम एक साथ मिलकर आपको अन्तिम परिणाम अर्थात् एकाग्रता और स्वरूप साक्षात्कार की ओर अग्रसर करेंगे। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि -

शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्ग:

शौच का पालन करने से जो फल आपको प्राप्त होगा वह यह है कि आप अपने शरीर के साथ भी घृणा कर बैठेंगें और दूसरे लोगों के सम्पर्क से दूर रहेंगे।

यदि कोई साधक शारीरिक शौच का पूरी तरह से पालन करने के लिए दृढ़संकल्प होगा तो वह अपने शरीर को घृणा कर बैठेगा। क्यों? जब कोई अपने शरीर को साबुन आदि के लगाने से पूरी तरह से साफ करता है और वह यह सोचता है कि वह अब संपूर्णतया शुद्ध है अत: अभ्यास कक्ष में प्रवेश करना उचित है। अभ्यास कक्ष में ज़ाकर जब वह ख़ांसने लगता है तो खांसने के साथ-साथ बलगम भी उगलने लगता है। यह देखकर वह यह अनुभव करता है कि यद्यपि वह बाहर से पूरी तरह शुद्ध है पर अन्दर से वह मलिन है। वह अपने शरीर से नफरत करता है। यही घृणा उसे अपने सम्बन्धियों तथा अपने परिवार से भी अलग रहने के लिए प्रेरित करती है। वह एकान्तवास चाहता है। यही एक महान उपलब्धि है जो शौच नामक नियम के पालन से प्राप्त होती है।

सन्तोष- सन्तोष का तात्पर्य है सच्ची सन्तुष्टि। यह लोभ, असाधारण इच्छा और अधिक प्राप्त करने की लालसा के प्रतिकूल है। आपको जो कुछ

मिले उसी पर सन्तुष्ट रहना चाहिए। जो कुछ स्वल्पमात्रा में आपके पास है, आपने उसे ईश्वर से मिले हुए उपहार के रूप में मानकर स्वीकारना चाहिये। ईश्वर तो जानते हैं कि किसे क्या, कितना और कैसे देना चाहिये। वे उस सर्वस्व के वितरक हैं जो हमारे पास हैं। अत: आपने यह नहीं सोचना चाहिए कि आपके पास बहुत कम है पर यह समझना चाहिए कि आपके पास जो कुछ है वह आपकी आवश्यकताओं के अनुरूप है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है। आप तो उतना ही पायेंगे जितना आप ईश्वरीय-विधान के अनुसार पाने के अधिकारी हों। आप उससे न कम पायेंगें न अधिक। यह तो व्यक्तिगत दुर्बलता है कि जो हम यह सोचते हैं कि मेरा जीवन नष्ट हुआ क्योंकि मुझे नौकरी में पदोन्नति नहीं हुई या मैं बहुत ही व्याकुल हूं कि मुझे अपने मन-चाहे कपड़े आदि प्राप्त नहीं हुए। इसके प्रतिकूल आपने यह सोचना चाहिए कि जो कुछ मुझे है वह ईश्वर का ही दिया हुआ है और जो कुछ उन्होंने मेरे लिए उत्तम समझा वह मैंने पाया है। यदि आप इस प्रकार से विचार करेंगें तो आप सदा संतुष्ट रहेंगें। आप अधिक-अधिक पाने की लालसा नहीं करेंगे और इस तरह शान्ति तथा अक्षुब्धता के आनन्द में मग्न होंगे। इस संसार में प्रत्येक पदार्थ, सारा धन, सारे भोग साधन तथा अन्य सब कुछ परम शिव का ही है। वह तो सदा उचित रीति से बांटता है और हमें वही देता है जो हमारे लिए उचित हो अत: अनावश्यक लालसा से अपने को व्याकुल नहीं बनाना चाहिये। उपनिषदों में कहा है कि-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्य स्विद् धनम्।।

भौतिक पदार्थ वर्ग सहित यह सारा विश्व प्रभु से निर्देशित तथा व्याप्त है।

जो कुछ इस विश्व में है वह उसकी सम्पत्ति है। अतः जो कुछ भी वह अपनी संपत्ति में से हमें अपनी इच्छा से देता है, हमें उसका सदुपयोग करना चाहिये। दूसरों की संपत्ति का हमें लोभ नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो कुछ भी इस विश्व में विद्यमान है वह प्रभु को छोड़कर किसी दूसरे की संपत्ति नहीं है। कहा भी है कि-

सन्तोषात् अनुत्तमसुखलाभः

अर्थात् सन्तोष को अपनाने से जो कुछ हमें मिलता है वह यह है कि हम जीवन भर शान्त रहते हैं। एक व्यक्ति प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकता है यदि वह ऐसा रहने के लिए संकल्प करें। वह सन्तुष्ट होके शिलाखण्ड पर सो सकता है।

तप- तपस्या का अर्थ संयम और सहनशीलता है, प्रलोभनों से अपने आप को दूर रखना उस तरह से नहीं जैसे एक बहुभोजी अधिक खाने की इच्छा के प्रलोभन से अपने को दूर नहीं रख सकता है। यह मेरी सलाह है कि अधिक नहीं खाना चाहिये। अधिक भोजन करने से अपने आपको भारी नहीं बनाना चाहिये। कम भोजन करके अपने पेट को कुछ खाली रखना चाहिये। ऐसा करने से आप अपने शरीर को स्वस्थ, अपने दिमाग को सर्वगामी और सावधान रख सकते हैं। अन्यथा आप अनाज से पूर्ण थैली की तरह स्थूलाकार बनोगे। आप अपना समय जंभाइयों और ऊंघने में ही नष्ट करोगे। जब आपका शरीर इस स्थिति में होगा तो आप एकाग्रता की उचित शक्ति को या अभ्यास के कार्य को कायम नहीं रख सकोगे।

गांधी जी ने कहा है कि इस संसार में लोग धूलि को पैरों तले रोंदते हैं पर मुमुक्षु को धूलि से भी विनम्र होना चाहिए। वह इतना विनम्र हो कि

धूलि उसे रौंद डाले। ऐसा आत्मसंयम उसे होना चाहिये। आत्मसंयम तो सच्ची साधना है यही तो धैर्य और सहनशीलता का सार है। इसके बिना आप तपस्या नहीं कर सकते हैं। आप पशु की तरह केवल डक्कारते ही रहेंगे। आत्मसंयम ही मन के मैल को हटाने का एकमात्र साधन है। पतञ्जलि ने कहा है कि-

काय इन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः

तप और आत्मसंयम के अपनाने से जो फल प्राप्त होता है वह यह है कि आपके शरीर और इन्द्रियों में पाई जाने वाली अशुद्धता अदृश्य हो जाती है और उस शक्ति से सिद्धि सुलभ होती है।

स्वाध्याय- स्वाध्याय चौथा नियम है। इसका अर्थ है अपने को जानना। आप अपनी शक्ति को बातों में या इधर-उधर की हांकने में नष्ट न करें। सामाजिक रीतिरिवाजों, दहेजप्रथा-सम्बन्धी विषयों या अन्य सारहीन बातों की ओर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए। अपनी शक्ति को तुच्छ और सारहीन बातों में गंवाना पाप है। हमें चाहिए कि हम वेदाध्ययन और श्री गीता जी जैसे शास्त्रों पर विचार करने में अपना समय लगायें। अपने को जानने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने आपको पूरी तरह से समझ लें। कहा भी है कि-

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः

अर्थात् स्वात्म लाभ के लिए, निरन्तर स्वाध्याय में लग जाने से अपूर्व फल प्राप्ति यह होती है कि इष्टदेवता आपके सामने आ उपस्थित होते हैं। चाहे आपका इष्टदेव परम शिव हो या श्री राम हो या श्री कृष्ण हो वह आपके सामने स्वप्नावस्था में या जाग्रद में प्रकट होंगे। कहा है कि -

**नमस्तेभ्योऽपि ये सोमकलाकलितशेखरम् ।
नाथं स्वप्नेऽपि पश्यन्ति परमानन्ददायिनम् ।।**

मैं उन भक्तों को भी प्रणाम करता हूं जो मस्तक पर चन्द्रकलाधारी, शांति और परम आनन्द को देने वाले प्रभु का साक्षात्कार सपने में भी करते हैं।

ईश्वरप्रणिधान- ईश्वरप्रणिधान अन्तिम और सर्वोच्च नियम है। इसका तात्पर्य ईश्वर की भक्ति और प्रेम है। प्रभु प्रेम ही भक्ति उपजाता है। यदि आप भगवान् शंकर से प्रेम रखते हैं और उनके अनन्य भक्त हैं तो यह संभव नहीं कि वे आपकी उपेक्षा करेंगे। आपको अवश्य ही स्वरूप साक्षात्कार होगा और अपनी अट्ठारह भुजाओं से वे आपको सुरक्षित रखकर अहन्तापरामर्श में धकेल देंगे। कहा भी है कि-

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्

ईश्वर प्रणिधान अर्थात् भगवान् शंकर की अनन्य भक्ति से समाधि निष्प्रयास ही प्राप्त होती है।

भगवान् शंकर की अट्ठारह भुजाओं से अपने को सुरक्षित रखने के लिए आपको चाहिए कि आप इन उपरोक्त नियमों से अपनी रक्षा का प्रयत्न करें जिन नियमों के विषय में मैंने आप से कहा है। आप सांसारिक पदार्थों के विषय में चिन्ता न करे। आप एकाग्रता से केवल ईश्वर का चिन्तन करें। ऐसा करने से भगवान् शंकर निश्चय करके आपको समाधि लाभ से संतुष्ट करेंगे।

पांचवा प्रकरण

बालांश्चयौवनस्थांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि।
सर्वानाविशते मृत्युरेवंभूतं जगदिदम्।।

ऐसी बात नहीं कि महाकाल पकी उमर वालों के ही प्राण हर लेते हैं, वह तो किसी के भी प्राण हर लेते हैं चाहे वह माता के उदर में स्थित हो, चाहे वह बालक हो, चाहे वह नौजवान हो, या चाहे वह प्रौढ़ व्यक्ति हो। यही तो संसार की रीति है। महाकाल जिसे संहारचक्र भी कहते हैं हर स्थान पर हर एक के पास जाता है। किसी के द्वारा इसे टोका नहीं जाता है। इस ऊपर दिये गये श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक जीव, चाहे वह कुछ समय का ही गर्भगत हो, या नवजात शिशु हो, या बालक हो, या नवयुवक हो या प्रौढ़ व्यक्ति हो या वृद्ध हो, महाकाल के हाथों के प्रहार से बच नहीं सकता है। यह संसार का विधान है। अतः किसी बात के लिए चिन्तित होना बेकार है। हमें सदा प्रसन्न रहना चाहिए। एक सत्ताधारी, मिट्टी के लौंदे के समान है, जो वर्षा से टकरा कर ज़मीन में समा जाता है। तथा अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को खो कर शून्य में घुल-मिल जाता है। इस संसार में सब कुछ अस्थायी है अतः लालच करना काहे की अकलमन्दी है। हमें किस लिए प्रलोभनों का शिकार बनना है? हमें किस लिए सम्पत्ति को इकट्ठा करना है, झूठे मुखोटों में रहकर सच्चाई को किसलिए भूल बैठना है।

पिछले भाषण में मैंने आपको पांच नियमों पर प्रकाश डाला था अब मैं पांच यमों के विषय में बताऊंगा। ये पांच यम हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

अहिंसा- अहिंसा यह पहला यम है। इसका तात्पर्य है हिंसा न करना। यह हिंसा दो प्रकार की है अमुख्य हिंसा और मुख्य हिंसा। अमुख्य हिंसा वह है कि जिसमें किसी की क्रियाओं या शब्दों पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। यदि किसी के शब्द या किसी की क्रिया दूसरे व्यक्ति को हानि पहुंचायेगी या किसी में क्रोध या नफरत पैदा करेगी वह भी एक प्रकार की हिंसा ही है। इस प्रकार की हिंसा का स्वरूप बहुत जटिल है। अत: आपने विनम्र और सरलभाषी बनना है। आपने इस हद तक अनुशासित बनना है कि आप दूसरों को किसी प्रकार की पीड़ा देने का प्रयास न करें। दूसरों के साथ ऊंचा बोलने या असभ्य व्यवहार करने में भी यह अहिंसा आप पर रोक लगाती है। यह अतिसूक्ष्म अहिंसा शरीर आत्मा और मन को कड़े अनुशासन में अनुशासित करके अपनानी चाहिए। जो इस प्रकार की अहिंसा को शरीर मन और आत्मा से पालन करता है और इस अनुशासन में पूरी तरह से प्रतिष्ठित है वही अपने अस्तित्व से स्वभावज वैरियों को भी प्रभावित करता है। ऐसी उसकी स्पन्दनात्मक शक्ति होती है। उदाहरण के रूप में यदि बिल्ली और चूहा इस प्रकार के व्यक्ति के पास हों, तो परस्पर वैरभाव को धारण करने पर भी, ये दोनों शान्त और एक दूसरे को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बिल्ली की यह प्रवृत्ति होती है कि चूहे पर हमला करूं और चूहे की यह प्रवृत्ति होती है कि कि वह बिल्ली को देखकर भागने में सफल हो पर अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्ति के सामने ये भी अहिंसक बनते हैं। न बिल्ली चूहे को देखकर उस पर हमला करती है न चूहा बिल्ली को देखकर भाग जाता है। इस प्रकार यह अहिंसा की ही व्यापक शक्ति है कि स्वभावज वैरियों को भी यह शान्तभाव से व्याप्त करती है। कहा भी है

कि -

अहिंसा प्रतिष्ठायांतत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अर्थात् अहिंसा में प्रतिष्ठित साधक के सामने स्वभाव से ही एक दूसरे के साथ शत्रुता रखने वाले दो प्राणियों को संसार का कोई भी व्यक्ति आपस में टकरा नहीं सकता है। क्योंकि अहिंसा नामक यम का पालन करने वाला किसी को हानि नहीं पहुंचा सकता।

मुख्य अहिंसा तो उस हिंसा का परित्याग करना है जो सारी हिंसाओं में अधमरीति की है अर्थात् जीवित प्राणियों की हत्या या अपने आप को प्रसन्न करने के लिए या अपने खाने की भूख को मिटाने के लिए जीवित जन्तुओं को हनन। इससे महान दूसरा कोई पाप नहीं। इस अहिंसा में वास्तविक रूप से सुप्रतिष्ठित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम मांस खाना पूरी तरह छोड़ दे। हंम शतप्रतिशत शाकाहारी हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुद्ध शाकाहारी ही तपस्या का मीठा फल प्राप्त कर सकता है। इस बात को याद रखना चाहिए कि मांस खाने वाला, मांस बनाने वाला और पशु हिंसा करने वाला समान रूप से पाप कर्मों का भागी नैतिक आचार से रहित और घोर अपराधी है। मांस खांने वाले का प्रत्येक कर्म दूषित माना जाता है। इतना ही नहीं यदि कोई पशुहिंसा या मांसाहार जैसे निन्दनीय कर्म का साक्षी भी रहे वह भी घोर अपराधी है। मैं आपसे जोरदार शब्दों में इतना कहे देता हूं कि मांस खाना सबसे बुरा कर्म और भयंकर पाप है। इसकी जितनी निन्दा की जाये कम है। जो पाप पशु हिंसा में कसाई को है वही पाप मांस पकाने वाले का है, वही पाप मांस बेचने वाले का है और वही पाप मांस खाने वाले का है। जो कोई व्यक्ति हिंसा- सम्बन्धी जिस किसी कर्म का साक्षी

हो उसकी गणना भी उपरोक्त पापियों के साथ होती है।

आप शायद यह सोचते होंगे कि पशु हत्या करने वाला कसाई ही एकमात्र पापी है, और कोई नहीं। आपकी यह विचारधारा सरासर गलत और निराधार है। इस जघन्य हिंसाकार्य में जो कोई व्यक्ति जिस किसी तरह से भाग लेगा वह समान रूप से पापों का हिस्सेदार होगा। यदि आप छोटा सा मांस का टुकड़ा भी हाथ में लेंगे तो आप भी कसाई से कुछ कम नहीं है। आप और कसाई दोनों उस समय एक ही वर्ग के समझे जायेंगे। इस विषय में किसी प्रकार का संशय नहीं है। स्वयं शाकाहारी होकर भी यदि आप मांसभक्षण जैसी महान हिंसा का विरोध नहीं करोगे, इस कार्य की ज़ोर-ज़ोर से निन्दा नहीं करोगे तो आप भी पापी हैं और यह माना जाता है कि आपने भी यही अपराध किया है। कहा भी है कि -

यथा ह्यतन्मयोऽप्येति पातितां तैः समागमात्।

अर्थात् यदि कोई स्वयं चौर न भी हो पर चौरों की संगति में पड़ने से वह भी चौर ही माना जाता है। यदि कोई शाकाहारी व्यक्ति कसाईयों के साथ संगति रखता हो, उनके साथ मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करता हो तो वह शाकाहारी होने पर भी पापों से कलंकित और समान दण्ड का भागी बनता है। अतः यह आपका धर्म है कि न केवल शाकाहारी जीवन बिताये अपितु जोरदार शब्दों में पशु हत्या का विरोध करे और मांस खाने की निन्दा करे। मेरा यह सन्देश आप अपने समीप के बन्धुओं, सगे-सम्बन्धियों, माताओं, पिताओं, पुत्रों और पुत्रियों को देना न भूलिये कि मांस खाना निन्दित कार्य है। याज्ञवल्क ने अपनी याज्ञवल्कस्मृति में कहा है कि पशुओं की हत्या में और उनके मांस को अपने आस्वाद के लिए खाने में तीन जघन्य अपराधों

का भागी बनना पड़ता है। ये तीन अपराध हैं प्राणाहरण, पीड़ा और वीर्यक्षेप।

प्राणाहरण– पशुओं के जीवन का हरण करना प्राणाहरण कहा गया है। यह एक महान अपराध है। यह बेचारा पशु भोला-भाला है तथा इसने ऐसा कुछ नहीं किया होता है जिसके परिणाम -स्वरूप इसे ऐसा कठोर दण्ड दिया जाये। इस पाप का बुरा फल न जाने कितने जन्मों तक भुगतना पड़ता है।

पीड़ा– हत्या के समय पशु को महान पीड़ा होती है। इस पीड़ा से इसके रोम-रोम सिहर उठते हैं इसके मर्म विलख उठते हैं। भोले भाले पशु के हनन के इस दुःख को ही पीड़ा के नाम से पुकारा जाता है।

वीर्यक्षेप– हत्या के समय पशुओं के बल को छीन लेने का अपराध ही वीर्यक्षेप कहा जाता है। अर्थात् हत्या के समय पशु अपने सारे अंगों को बलपूर्वक्र छटपटाता है ताकि किसी न किसी प्रकार से वह अपने आपको बचा सके। पर हत्यारे का प्रहार उस पर कुठाराघात बन कर ही दम लेता है। शास्त्रों में भी इन उपरोक्त तीन अपराधियों की अलग-अलग दण्ड विधि कही गई है। जैसे प्राणाहरण नामक अपराध करने वालों को, अर्थात् जो पशुओं के जीवन का हरण करते हैं, उन्हें बीस जन्म लेने पड़ते हैं, जिनमें प्रत्येक जन्म में वह पूर्ण आयु को कभी प्राप्त नहीं करता है अर्थात् प्रत्येक जन्म में समय से पहले वह अचानक मृत्यु का शिकार बन जाता है, या बाल्यावस्था में ही उसकी मृत्यु होती:है या युवावस्था में वह मर जाता है या प्रौढ़ अवस्था में प्राणों से हाथ धो बैठता है। प्रत्येक अवस्था में इनकी मृत्यु भयानक रूप से होती है। दुःख और पीड़ा से इनके प्राण कराह उठते हैं। पीड़ा नामक अपराध करने वालों को भी बीस बार जन्म लेकर असह्य शारीरिक पीड़ा और संताप को भुगतना पड़ता है। इनका जीवन असमानता और संघर्ष से

पूर्ण होता है। इन लोगों को कभी मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं होती अपितु पारिवारिक लड़ाई झगड़ों आदि निन्दनीय दुष्कर्मों से परेशान होना पड़ता है। वे सदा असहाय और कभी प्रसन्न नहीं दिखाई देते हैं। वे तनावग्रस्त और चिन्ताओं से घेरे रहते हैं। इनका जीवन अनिश्चितता और अनियमितता का शिकार बनता है।

पशु की शक्ति को उसकी हत्या करने से नष्ट करने वाले वीर्यक्षेप नामक अपराध के दोषी व्यक्ति भी बीस बार जन्म लेकर हर जन्म में शक्तिहीन और अच्छे स्वास्थ्य से वंचित रहते हैं। अर्थात् हर जन्म में उन्हें शारीरिक कमजोरी रहती है और दवाई खाये बिना एक क्षण भी काट नहीं सकते हैं। जीवित ही जो मरा हुआ लगे, उस व्यक्ति की तरह वे भी प्रयोजन हीन और निस्सार होते हैं। इन तीन नृशंस अपराधों के लिए उपरोक्त दण्ड उन व्यक्तियों को मिलते हैं जो मांस का सेवन करते हैं। यही कारण है कि हम मांस को "मां,स", कहते हैं अर्थात् मुझे (मां) वह (स) खायेगा। कहा भी है कि -

मांसभक्षयितामुत्र यस्यमांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्यमांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।।

प्राचीन ऋषियों और सन्तों ने कहा है कि जिस किसी का मांस हम इस संसार में खायेंगें वह भी हमारे मांस को दूसरे जन्म में इसी तरह से खायेगा।

इसका तात्पर्य यह है कि यदि आप किसी पशु का मांस खाएंगें वह पशु भी दूसरे जन्म में हमारा पीछा नहीं छोड़ेगा। अपितु वह पशु हमारा पीछा अन्यान्य लोकों में भी करेगा। वह हमारा पीछा एक जन्म में नहीं बीसों जन्मों में लगातार रूप से करेगा। इन बीसों जन्मों में पशु के मांस को खाने वाले

उसी दण्ड को भुगतेंगे जिनका मैंने ऊपर संकेत किया। मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में इससे अधिक शक्तिशाली दण्ड विधान की विधि बताई है। वे कहते हैं कि-

यावन्ति पशुलोमानि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि।।

अर्थात् जिस पशु की हम हत्या करते हैं और जिसका मांस हम खाते हैं उस पशु के शरीर पर पाये जाने वाले बालों को गिन लो उतने ही जन्मों में हम उस पशु के द्वारा मारे जायेंगें। अपनी मनुस्मृति में आगे चल कर मनु जी शाकाहारी की महानता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि-

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि न च खादेत्यः तयोः पुण्यफलं समम्।।

अर्थात् जो जीवनभर मांस खाने से परहेज़ करते हैं वे मरने के बाद जिस पुण्य फल को पाते हैं वह फल सौ सालों तक हर साल किये जाने वाले अश्वमेघ यज्ञ के पुण्य फल के समान है।

ज़रा इस बात पर विचार करें कि एक व्यक्ति जन्मभर प्रति वर्ष अश्वमेघ यज्ञ करके कितना पापहीन, पुण्यवान और सौभाग्यशाली बनेगा पर मांस न खाने वाला उस अश्वमेघ यज्ञ करने वाले साधक से भी अधिक सौभाग्यशाली, पुण्यवान और पापहीन होगा। यह है मांस न खाने की बड़ाई। यही बात हमारे शैव-शास्त्रों में भी कही गई है कि-

न विवाहे पशुं हन्यात् न चात्मार्थे कदाचन।
यागकाले च न हन्यात् नेष्टबंधुसमागमे।।

अर्थात् विवाह जैसे उत्सवों पर हमें मांस का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अपनी मानसिक प्रसन्नता के लिए मांस का सेवन नहीं करना चाहिए। धार्मिक कार्यों में तथा अपने इष्टजनों या समीपस्थ बन्धु बान्धवों को आदर सत्कार करने के लिए मांस का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमें न विवाहादि उत्सवों पर मांस का सेवन करना चाहिए न ही हम इस विचार से अपने को विभ्रान्त करें कि स्वास्थ्य की रक्षा के लिए मांस का सेवन आवश्यक है। यह कोई कारण नहीं। क्यों हम मृत्यु के डर से और अन्धविश्वास के भय से एक बेजुबान पशु की हत्या करें। एक भोले भाले पशु के जीवन को न्योछावर करके अपनी रक्षा का सोंचने से उचित यही है कि हम मर ही जायें। आप लोगों में से यदि कोई यह कहे कि हमें अपने मेहमानों के लिए या अपने नये-नये दामाद के लिए या लड़की के ससुराल वालों के लिए मांस आदि का प्रयोग अवश्य करना पड़ता है नहीं तो उनका अनादर होगा जिसका बुरा परिणाम निकलेगा या वे यह सोचेंगे कि हमारा आदर सत्कार करने वाला बहुत ही कंजूस है, अच्छी तरह से अतिथियों को सम्मानित करने में तथा उन्हें खिलाने पिलाने के लिए पैसा खर्च करने में तंगदिल्ली बरतता है। पर मैं आप लोगों से यह कहता हूं कि यदि आप सचमुच अपने दामाद या अपने मेहमानों से सच्चा प्रेम रखते हों तो उन्हें अनेक प्रकार के स्वादिष्ठ व्यञ्जनों पनीर, मीठा पुलाव, दही आदि शाकाहारी पदार्थों से तीमारदारी करो। उन्हें मांस से बने अनेक प्रकार के व्यञ्जनों से सत्कार न करो। इस प्रकार के पदार्थों के परोसने से आप उनका आदर सत्कार या प्यार नहीं करते हैं अपितु आप उनकी घृणा करते हैं और आप उन निन्दनीय कर्मों को प्रोत्साहित करते हैं जिनसे उनको बीस जन्मों तक नरक भुगतना पड़ेगा। इस प्रकार आप उन्हें सुमार्ग के स्थान पर कुत्सित

मार्ग पर ला खड़ा करते हैं।

आप शायद यह भी कहेंगे कि हमें एक बड़ी समस्या है कि हमारे अच्छे पढ़े लिखे पुरोहित ने हमें सलाह दी है कि हम एक पशु की बलि दें जो हमें आने वाली आपत्ति या भय से मुक्त करेगी। मैं कहता हूं कि ऐसी विचारधारा बिल्कुल बेहूदा है, बेकार है, असंगत है। मेरे पिता श्री नारायण जू रैणा एक दिन अपनी इष्टदेवी ज्वाला जी के तीर्थस्थान 'खिव' (Khrew) (जो श्रीनगर से २०-२५ कि.मी. की दूरी पर है) के ज्वालामन्दिर में पूजा करने चले और वहां भेड़ के फेफड़ों की बलि चढ़ाई। मैं यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाता था कि क्या इस धरती पर ऐसे भी लोग हैं जो यह सोचते हैं कि एक भोले भाले, मूक भेड़ की प्राण हत्या करने से वे स्वर्गधाम को सिधारेंगे। इस बात का मन में संकल्प भी नहीं करना चाहिए। मेरी आप लोगों से यही सच्ची सलाह है कि कभी, किसी भी हालत में मांस का सेवन मत करो। मांस का सेवन न करना ही सच्ची अहिंसा है।

सत्य- सत्य का तात्पर्य है सच्चाई। कड़वा सत्य और आन्तरिक सत्य, यह सत्य के दो भेद है। कड़वा सत्य से मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि वह सत्य जिससे वैर भाव जन्मे, या जिससे कोई विनाश हो। सत्य वह है जिससे अक्षुब्धता या शान्ति का विस्तार हो। अत: सत्य का प्रयोग काल और परिस्थिति को ध्यान में रखकर करना चाहिए। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि आप झूठ बोलें क्योंकि असत्य बोलना शक्तिहीनता है पाप है। हमें ऐसा सत्य बोलने से भी परहेज़ करना चाहिए जिससे समस्यायें उत्पन्न हों।

आन्तरिक सत्य तो दूसरे प्रकार का है। यह सत्यान्वित तपस्या है। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि जब आप अभ्यास करने बैठते हें तो

इन्द्रिय रूपी चोर आपके मन रूपी धन को चुराते हैं। वे आपके अमूल्य पदार्थों व आपकी समाहितता को भंग करते हैं। अत: अपनी आंखें बन्द करके आपने अभ्यास नहीं करना चाहिए। आंखें बन्द रखने से मेरा अभिप्राय यह है कि हमें अपनी समाहितता को त्यागना नहीं चाहिए अपनी एकाग्रता को भंग नहीं होने देना चाहिए। अपितु पूरी सावधानता से अभ्यास करना चाहिए ताकि मन के चौरों से आप लूटे नहीं जावोगे। ये मन के चोर प्रलोभनों के आवरण पैदा करते हैं तथा बेतुकी विचारधारा को उत्पन्न करके आपको अपने पथ से भ्रष्ट करते हैं, एकाग्रता का खण्डन करते हैं। इन आन्तरिक चौरों से हमें सदा होशियार रहना चाहिए। आंखें बन्द रखना, अपने आस पास के घटनाचक्र की ओर ध्यान न देना, अपनी अहंपरामर्शता के खोने का विचार तक नहीं करना, आन्तरिक साधना का असत्यरूप है। गीता जी में भी कहा है कि -

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मूढाचार: स उच्यते।।

अर्थात् अपनी कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां समेट कर आप तो अपने आप को भोग पदार्थों के विचारों से ही उत्तेजित करते हैं। आप तो सही डगर पर नहीं हैं। आपकी क्रियायें सारहीन हैं और उनका कोई मूल्य नहीं है। जो कोई अकस्मात् या भूल से भी असत्य भाषण नहीं करता हो उसकी वाणी में महान शक्ति आती है। वह जो कुछ कहता है वह अन्यथा नहीं होता है। वह जो कुछ चाहता है या किसी अभिलाषा की मात्र अभिव्यक्ति करता है वह पूर्ण होता है। यदि वह किसी को कुछ आशीर्वाद देता है वह तत्क्षण फल देता है। यहां तक कि उसका दिया हुंआ स्वरूपसाक्षात्कार का आशीर्वाद भी

अन्यथा नहीं होता है।

अस्तेय- अस्तेय का अर्थ है सदा ईमानदार रहना। बेईमानी से मेरा अभिप्राय शारीरिक बेईमानी और तस्करी का अभिप्राय नहीं कि जब हमारी घर की वस्तुयें रात को चौरों से चुराई जाती हैं। मानसिक तस्करी भी एक प्रकार की तस्करी है। प्रलोभनवश लालच करना, ईर्ष्या रखना और वैर करना भी चोरी है। दूसरों के योगक्षेम या मान सम्मान या पदवी को पाने के चिन्तन से अपनी धारणा को आक्रान्त करना भी इसी के अन्तर्गत है। दूसरों के हित को ध्यान में रखे बिना किसी उद्देश्य को अपने लिए पाने का प्रयत्न करना या उसे प्राप्त करना जिसे पाने के हम अधिकारी न हों, या जिसे पाना दूसरों का हक है उसमें हेराफेरी करके अपने नाम पर करना, अपने लाभ के लिए अपना असर रसूक बढ़ाना, ये सारे तस्करी के ही विविध आयाम हैं। दूसरों के लिए हमें क्यों चिन्तित होना चाहिए? हमें अपने कल्याण की ओर ही सदा ध्यान देना चाहिए, इस प्रकार की भावना मानसिक तस्करी है। हमें इन दोनों से परहेज़ करना चाहिए। कहा भी है कि-

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

इस अस्तेय वृत्ति में प्रतिष्ठित रहने से संसार के सारे विषयभोग और सारे रत्न आपके वश में रहेंगे। आपको प्रत्येक पदार्थ की प्राप्ति अधिक मात्रा में होगी यदि आप किसी के संचित वस्तुओं पर अपनी लोभवृत्ति का प्रदर्शन नहीं करोगे। गीता जी में भी कहा है कि-

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मां प्रापयन्ति ते।।

अर्थात् जो मुझे सदा समाहित होके प्रीति के साथ बिना भूले, पूजा करते हैं मैं उन्हें वह बुद्धियोग प्रदान करता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकते हैं और दूसरों के लिए भी मेरी प्राप्ति का कारण बन सकते हैं।

भगवान श्री कृष्ण यहां यह बताते हैं कि जो इस प्रकार की ईमानदारी में सुप्रतिष्ठित हो वह जो कुछ चाहता है या जिस किसी की उसे आवश्यकता होती है, उसे वह प्राप्त करता है। इस प्रकार श्री कृष्ण हमें सिखाते हैं कि वह उनकी संपूर्ण रूप से रक्षा करते हैं और सब कुछ उनके भोग के लिए तैयार रखते हैं जो वास्तविक रूप से ईमानदार हों।

ईशोपनिषद् में कहा है कि -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्वित्धनम्।।

यह सारा विश्व ईश्वर से ही निर्देशित तथा व्याप्त है जो कुछ इस विश्व में है वह उसकी सम्पत्ति है। अत: जो कुछ भी वह अपनी सम्पत्ति से अपनी इच्छा से हमें देता है हमें उसका उपभोग करना चाहिए। दूसरों की सम्पत्ति का हमें लोभ नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो कुछ भी इस विश्व में विद्यमान है वह तो ईश्वर को छोड़कर किसी दूसर की सम्पत्ति नहीं है।

अर्थात् जो कुछ भी इस विश्व में है, चाहे वह भौतिक सम्पत्ति हो, या आपका परिवार हो, या आपके मित्र हों सब कुछ प्रभु की ही देन है। उसने अस्थायी रूप से उस सम्पत्ति का प्रयोग करने के लिए हमें अनुमति दी है जो कुछ उसके पास है। अत: जो कुछ उसने हमें उधार के रूप में दिया है उसका हम सही इस्तेमाल करें। किसी के साथ ईर्ष्याभाव न रखें। सदा सन्तुष्ट और प्रसन्नचित्त रहें। ईश्वर ने अपनी इच्छा से हमारी आवश्यकता के अनुरूप हमें सब कुछ दिया है। यही तो ईश्वर की वितरण प्रणाली का दिव्य नियम है। प्रभु की इस वितरण विधि और इच्छा के सामने नतमस्तक रहो और अपने आपको ईमानदारी में सुव्यवस्थित रखो।

ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है मानसिक और शारीरिक चरित्र का सन्तुलन कायम रखना, ऐन्द्रिक प्रलोभनों के सामने न झुकना तथा अपने मन को विषयभोगों की इच्छा का शिकार न बनने देना। उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति को चाहिए कि वह सम्भोग सुख की इच्छा अपनी पत्नी के अतिरिक्त और किसी से न करे और न ही स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी पर-पुरुष की ओर आंख उठाकर देखे। अन्यथा उनके ब्रह्मचर्य व्रत का खण्डन हो सकता है। इस ब्रह्मचर्य व्रत को बढ़ाने से आपको वीर्य लाभ होता है जो शक्ति का भण्डार गृह माना जाता है। पतञ्जलिने भी कहा है कि -

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

अर्थात् ब्रह्मचर्य भाव में प्रतिष्ठित होने का लाभ यह है कि इसका फल आपके मन वाणी और क्रिया में प्रतिफलित होता है जिसके परिणाम स्वरूप आपके शब्द शतश: सत्य सिद्ध हाते हैं। वीर्य से आपको शक्ति मिलती है यह वह शक्ति नहीं जो आपको शारीरिक या सामाजिक क्रियाओं में काम आयेगी, अपितु यह वह शक्ति है जो आध्यात्मिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। कहा भी है कि-

**तद् गोपितं स्याद् धर्मार्थं
धर्मं ज्ञानार्थमेव च।
ज्ञानं तु ध्यान योगार्थं
सोऽचिरात्प्रविमुच्यते।।**

अर्थात् प्रभु को याद करने का आपका स्वभाव यदि धर्म के लिए सुरक्षित है तथा आपका धर्म ईश्वर को जानने के लिए सुरक्षित है, और आपका यह ज्ञान ध्यानयोग के लिए सुरक्षित है तो निःसंशय आप शीघ्र ही मुक्ति को पावोगे। तब तो प्रभु का साक्षात्कार आपको प्रायः होता रहेगा यदि आपने सुरक्षित वीर्य को स्वात्मलाभ में लाया हो। वह वीर्य जिसे आप धारण करते हो ज्ञान के लिए प्रयोग में ला सकोगे। यह वह ज्ञान नहीं जिसे आप वाद-विवादों में या दूसरों को अपने ज्ञान या समझ की शक्ति से नीचा दिखाने में काम में ला सकते हो अपितु यह ज्ञान सुलभता से पाये जाने वाले और शीघ्रता से मुक्ति दिलाने वाले स्वरूप लाभ की खोज के लिए है। यह कहा जाता है कि यदि एक सच्चा ब्रह्मचारी गुरु दीक्षित हो तो उसे साधना का फल आसानी से और शीघ्रता से प्राप्त होता है। इसके प्रतिकूल यदि चरित्रहीन तथा ब्रह्मचर्य हीन साधक अभ्यास की प्रक्रिया में जुट जाता है तो वह विचलित होता है, या उसका मन सुस्थित नहीं रहता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही एकाग्रता की शक्ति परिपुष्ट होती है। ब्रह्मचर्यवान् साधक एक घण्टे में अभ्यास की जिस चरम-कोटि को लांघता है उसे ब्रह्मचर्य हीन साधक बीस सालों में भी नहीं पा सकता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला बिना प्रयास के चिद्रूपता को पाता है। अतः ब्रह्मचर्य बहुमूल्य रत्न है। उसे सावधानता से सुरक्षित रखना चाहिए। शारीरिक या विषय भोगों का प्रलोभन व्यक्ति के ब्रह्मचर्यत्व का बाधक बन सकता है। एकाग्रता से ही साधक तन्मयीभाव को पाता है जो परमार्थ के मार्ग में प्रवेश पाने के लिए आवश्यक है। इसी सन्दर्भ में रामायण का एक प्रसंग है जो ब्रह्मचर्यत्व की सुतरां पुष्टि करता है। जब वन में रावण ने सीता का हरण किया तो राम और लक्ष्मण उसी वन में उसकी खोज हर स्थान पर करने लगे। समीपस्थ ऋष्यमूक पर्वत पर दूसरी ओर सुग्रीव हनुमान और वानरों का झुण्ड बैठा था। रावण सीता हरण के समय इसी पर्वत पर से गुजरे थे। सीता ने उस समय अपने आभूषण और रत्न आदि इस अभिप्राय से पर्वत पर फेंके थे ताकि इस वन में घूमते-घूमते राम इन रत्नों और आभूषणों को कहीं पायेंगे और उस रास्ते को जान पायेंगे जहां से सीता चली हो। सीता जी के कुछ आभूषण उस स्थान पर भी पड़े जहां सुग्रीव और हनुमान बैठे थे। वे दौड़ कर उन गिरे हुए आभूषणों को उठाते हुए वन के उस प्रान्त की ओर आ रहे राम और लक्ष्मण को दिखाने लगे। राम ने सीता के आभूषण झट से पहचाने। फिर भी अपनी प्रतीति को पुष्ट करने के लिए उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि क्या इन आभूषणों की पहचान है तो लक्ष्मण ने कहा कि -

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं तत्पादवन्दनात्।।

मैं उन आभूषणों को नहीं पहचान सकता हूं जो सीता जी अपने कानों में लगाती थी या अपनी कलाई पर धारण करती थी। मैं केवल उन आभूषणों को पहचान सकता हूं जो सीता जी चरणों में लगाती थी क्योंकि मैने कभी उनके मुख की ओर नहीं देखा अपितु मैं सदा उनके चरणों की वन्दना करता था।

ऐसा ही ब्रह्मचर्य प्रत्येक नागरिक का होना चाहिए।

अपरिग्रह- अपरिग्रह का तात्पर्य है संग्रह करने की बीमारी तथा संग्रह करने के स्वभाव से मुक्त होना। हम सब अधिक मात्रा में संग्रह करते हैं। जितनी अधिक मात्रा में हम संग्रह करेंगे उतनी ही हमें अधिक उन्हें सुरक्षित रखने तथा देखरेख की चिन्ता होगी। जैसे यदि हमारा फावड़ा टूट गया तो हम उसे बाहर फैंकने के बजाय उसके टूटे हुए भाग को अपने भण्डार-कक्ष में रखते हैं। या यदि कोई शीशा टूट जाता है तो हम उसके टूटे हुए टुकड़े को संभाल के रखते हैं। हम तो इस प्रकार के संग्रहकर्ता हैं कि हम अपने मकानों को कदापि छोड़ नहीं सकते हैं। हमें चाहिए कि हम बेकार की वस्तुएं इकट्ठा करके न रखें। कहा भी है कि-

अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथन्तासंबोधः।

अर्थात् जब हम अपरिग्रह की स्थिति में सुप्रतिष्ठित होवें तो हम भूत भविष्यत् और वर्तमान को जानने में समर्थ होंगे। जो व्यक्ति संग्रह नहीं करता है उसकी दृष्टि तीन जन्मों तक व्यापक रहती है। वह अपने बीते हुए समय का विवेचन कर सकता है, वर्तमान को विशदता से देख सकता है और भविष्य को पहले ही भांप सकता है। वह अप्रत्यक्षदर्शी बन सकता है। यह है महिमा और यह है शक्ति अपरिग्रह की।

इस तरह से मैंने संक्षेप में तथा स्पष्ट रीति से अपने को अनुशासन में तथा यम और नियमों की स्थिति में परिनिष्ठित करने के लिए आवश्यकताओं का रेखांकन किया। जो कुछ मैंने कहा यदि आप उसका अच्छी तरह से पालन करोगे तो इसमें कोई संशय नहीं कि भगवान् शंकर स्वच्छन्दनाथ के रूप में अपनी महान अठारह भुजाओं से आप लोगों की रक्षा अवश्य करेंगे और स्वात्म साक्षात्कार से हम सबों को लाभान्वित भी करेंगे।

ॐ शान्तिः ओ३म्।